प्रकाशक
सेठ मुन्नालाल जैन
पार्टनर :-शिवनाथ राय रामधारी
नया बाज़ार दिल्ली।

मुद्रक :
पाईनियर फाईन आर्ट प्रेस
दिल्ली।

। थन

आज का जगत् जहाँ वैज्ञानिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने में बहुत तीव्रगति से अग्रसर हो रहा है और अपने वैज्ञानिक साधनों से इतरलोकों पर भी विजय-पताका फहराने के प्रयत्नों में यत्किंचित् साफल्य प्राप्त करने लगा है, वहीं दिन-प्रतिदिन मानव-हृदय की शान्ति का भी अन्त होता जा रहा है। आज का मानव जीवन से त्रस्त, श्रान्त होकर कहीं दूर शान्ति की खोज के लिए कूच करने को बेचैन है, परन्तु उसके समक्ष जो उन्नति के साधन हैं, वे उसे शान्ति की अपेक्षा अशान्ति, लूट-खसोट, अन्याय, अत्याचार, स्वार्थपरायणता के गरम बाजार की ओर ही ले जाते हैं। कहने को वे उन्नति के साधन हैं, परन्तु उनसे उल्टे मानव अधोगति की ओर जा रहा है। आज की अणु-शक्ति जिन स्वार्थपरायण हाथों में है, वह मानव को एक दिन प्रलय की ओर ही ले जायेगी, ऐसा अब स्पष्ट-सा होने लगा है।

इस सबका कारण क्या है? मानव ने धर्म, संस्कृति और सभ्यता की ओर से मुख मोड़ लिया है। वह अपनी संस्कृति को भूलकर दूसरों की नकल करने पर तुल चुका है। उसे अपने पूर्वजों द्वारा प्रदर्शित और अनुभूत मार्ग पर चलने में विश्वास नहीं रहा, क्योंकि वह अपने को पूर्वजों से बहुत अधिक बुद्धिमान् समझने लगा है।

किन्तु वास्तव में देखा जाये तो जब तक यह भूला-भटका इन्सान अपने परित्यक्त मार्ग को दुबारा नहीं अपनायेगा, तब तक वह अपने लक्ष्य—शान्ति तक कथमपि पहुँच नहीं सकता। धर्म और संस्कृति की चर्चा एक ऐसा साधन है जो घरेलू और बाह्य विषयों से दुःखी मनुष्य के चित्त को शान्ति प्रदान करता है।

इसी उद्देश्य को लेकर यह अध्यात्म और संस्कृति के प्रवचनों का संग्रह प्रकाशित किया गया है। पंजाब केसरी जैनभूषण, प्रान्त मन्त्री पं० रत्न मुनि

श्री प्रेमचन्द जी के अमूल्य प्रवचन इसमें संगृहीत हैं। मुनिश्री के प्रवचन जहाँ अध्यात्म के गम्भीर से गम्भीर विषय पर विशद प्रकाश डालते हैं, वहाँ उन विषयों में सर्वसाधारण की समझ में आने के लिए उपयुक्त सारल्य और विषय-प्रतिपादन की शक्ति भी रहती है। कथा, संवाद, चुटकले उदाहरण आदि से वे गम्भीर विषयों को भी दिलचस्प बना देते हैं। मुनिश्री का प्रवचन एक सिंह की गर्जना के समान होता है

इसी से बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी जन उनके उपदेशों से पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। उनके उपदेशों में किसी साम्प्रदायिक भेद को स्थान नहीं है और वे सत्य के पुजारी हैं। आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, गुरमुखी, उर्दू आदि अनेक भाषाओं के विद्वान् हैं।

आप प्रायः देश के अनेक भागों का भ्रमण करके धार्मिक जनता को अपनी पवित्र वाणी का रसपान कराते रहते हैं। आपमें किसी प्रकार की स्वार्थी प्रवृत्ति का लेश नहीं, अतः आप अत्यन्त सुस्पष्ट वक्ता हैं। आप अपने प्रवचनों में स्वार्थियों और ढोंगियों को बहुत बुरी तरह आड़े हाथों लेते हैं।

जैन धर्म के प्रचारार्थ आपने अपना तन-मन अर्पित कर रक्खा है। आपके प्रयासों से लाखों पथभ्रष्ट जनगण सन्मार्ग की ओर अग्रसर होकर मानव के वास्तविक ध्येय परमात्म-मिलन को आनन्द प्राप्त कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक जन-जन के लिए एक अत्यन्त उपयोगी उपदेशामृत के रूप में सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। इससे पूर्व इसी पुस्तक के पांच भाग प्रकाशित हो चुके हैं जिनसे मनुष्यों ने बहुत लाभ उठाया है। यह छठा भाग भी उसी तरह उन्हें लाभ पहुँचायेगा ऐसी हमें आशा है।

अन्त में हम दानवीर सेठ मुन्नालाल जी का बहुत धन्यवाद करते हैं जिन्होंने अपने व्यय से प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित कराकर धार्मिक जनता को अमूल्य उपदेशामृत का पान कराया।

—सम्पादक

विषय-सूची

ध

(छठा)

: १ :

सम्यक्त्व संरक्षण

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभाव !

भारतीय आस्तिक दर्शनों ने और विशेषतः जैन धर्म ने आध्यात्मिक साधना का चरम और परम लक्ष्य मोक्ष स्वीकार किया है । समस्त जैन वाङ्मय का प्रधान स्वर मोक्ष की साधना का निर्देश करता है । शास्त्रों में ज्ञानी पुरुषों ने मुमुक्षु जीवों के लिए जो साधना बतलाई है और मुक्ति की प्राप्ति के लिए जिन साधनों का निरूपण किया है, उनमें सम्यग्दर्शन अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित है । सम्यग्दर्शन का असाधारण महत्त्व है । वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण तो है ही, किन्तु उसकी विशिष्टता इस बात से भी

है कि वह मोक्ष के अन्य साधनों को भी समीचीन रूप प्रदान करता है।

सज्जनो ! साधन, साध्य और साधक की त्रिपुटी है। साधक आत्मा है जो किसी कार्य को करने वाला है। किसी कार्य को करने का जो ज़रिया है, निमित्त है, उसे साधन कहते हैं। साधक आत्मा, साधन के द्वारा, जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है और जिस ध्येय या लक्ष्य को समक्ष रख कर साधनों का प्रयोग किया जाता है, उसे साध्य कहते हैं।

संसारी जीवों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियां और भिन्न-भिन्न रुचियां हैं। अतएव उनकी आवश्यकताओं के अनुसार उनके सामने अनेक प्रकार के साध्य होते हैं। जिसको जैसी-जैसी वस्तु की आवश्यकता है, उसके सामने वही साध्य है। जिसे धन-सम्पत्ति प्राप्त नहीं है किन्तु उसकी आवश्यकता प्रतीत हो रही है, उसके लिए धन-सम्पत्ति ही साध्य है। जो मान-प्रतिष्ठा का इच्छुक है, उसके लिए मान-प्रतिष्ठा साध्य है। इसी प्रकार जिसे जिस वस्तु को प्राप्त करने की कामना है, उसके लिए वही साध्य बन जाती है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि को अपनाया जाय और गंभीरता के साथ विचार किया जाय तो सहज ही प्रतीत होगा कि सांसारिक पदार्थ, जिन्हें दुनिया के लोग साध्य समझते हैं, स्थायी मंगल प्रदान नहीं कर सकते। उन साध्यों को प्राप्त कर लेने पर भी आत्मा को शाश्वत शान्ति अथवा चिरकालीन तृप्ति प्राप्त नहीं होती। यही नहीं, बहुत बार तो प्राप्त हुए वे साध्य पदार्थ उलटे व्याकुलता की वृद्धि करते हैं और उस व्याकुलता को दूर करने के लिए फिर किन्हीं अन्य वस्तुओं को साध्य बनाना पड़ता है। इस प्रकार अनवस्था और अस्थिरता के भंवर में जीवन फंस जाता है और

अन्त में वह यों ही समाप्त हो जाता है। ऐसे पदार्थों को परम साध्य नहीं माना जा सकता। वास्तव में साधने योग्य यदि कोई वस्तु है, प्राप्त करने योग्य कोई पदार्थ है और जिसे प्राप्त करने के पश्चात् फिर कभी किसी अन्य पदार्थ को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती तथा जो एक बार प्राप्त होकर कभी पृथक् नहीं होता, तो वह है मोक्ष। जिसने एक बार मोक्ष प्राप्त कर लिया, उसे फिर किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। वह सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। उसे जो कुछ करना था वह कर चुका; अब उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहा।

जब किसी चीज़ की इच्छा होती है, चाह होती है, तब उसे प्राप्त करने के लिए कुछ करना पड़ता है, किन्तु मुक्तात्माओं में कोई चाह, इच्छा, अभिलाषा या कामना अवशिष्ट नहीं रहती। इच्छा कर्म के उदय से होती है। वह मोहनीय कर्म की प्रकृति है। मुक्तात्मा कर्मों का नाश कर चुके हैं, क्योंकि समस्त कर्मों का नाश होना ही मोक्ष कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है :—

'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।'

अर्थात्—समस्त कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है।

इस प्रकार ज्ञानी जनों का कथन है कि साधक को अपने साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। मोक्ष भी साध्य है और परम साध्य है। अतएव जो मोक्ष रूपी साध्य की प्राप्ति करना चाहते हैं, उनके लिए भी साधन होने चाहिए, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि साधन, साध्य के अनुकूल ही होने चाहिए। साध्य और प्रकार का हो और साधन उसके विपरीत हों तो उनसे साध्य की

प्राप्ति या सिद्धि नहीं हो सकती। मोक्ष रूप साध्य की उपलब्धि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र से होती है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है :—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।'

आप जानते हैं कि रास्ते के बिना कोई भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता, जब कि यहां दस कोस जाने के लिए भी रास्ता चाहिए और वह भी साफ और अच्छा होना चाहिए, जाना-पहचाना चाहिए, ऊबड़खाबड़ और झाड़ी-पहाड़ी वाला नहीं होना चाहिए। तभी उस रास्ते पर चलने वाला पथिक सुरक्षित पहुंच सकता है। इसके विपरीत, यदि कोई पथिक ऐसे सुगम्य मार्ग को छोड़कर, भूल से दूसरे पथ पर कदम रख देता है, जो उसे बीहड़ वन में पहुंचाने वाला हो तो वह पथिक अपने निश्चित स्थान पर नहीं पहुंच सकेगा। हां, भूल जाने पर बीच में किसी दूसरे जानकार से रास्ता पूछ लेगा तो उस गलत रास्ते को छोड़कर फिर सही रास्ता पकड़ सकता है।

मैं अभी बम्बई-सौराष्ट्र की तरफ से विचरण करके आ रहा हूं। उधर के रास्ते मेरे देखे हुए नहीं थे। अतएव मैं पूछ-पूछ कर रास्ता अपनी डायरी में नोट कर लेता था और उसी राह पर चल पड़ता था। इस प्रकार विहार करता-करता मैं यहां तक आ पहुंचा हूं।

सज्जनो ! रास्ते के बिना काम चलने वाला नहीं है। मगर मुश्किल तो यह है कि लोग सही रास्ता जान कर भी उसपर नहीं चलते और गलत राह पर सरपट दौड़े जा रहे हैं। रास्ता बताने वाला बता रहा है और कह रहा है कि सीधा डामर रोड

बना है, तुम उसपर बराबर चलते जाना। अपने लक्ष्य तक पहुंच जाओगे। इस प्रकार बताने वाला सद्भावना से, ईमानदारी से रास्ता बता रहा है, पर चलने वाला जाना तो चाहता है मोक्ष में, मगर इतना बतला देने पर भी रास्ता पकड़ रहा है मिथ्यात्व का। ऐसी स्थिति में उस राजमार्ग को छोड़ देने वाला यदि दूसरी दुखद जगह नहीं पहुंचेगा तो कहां जायेगा ? वह अपने निश्चित लक्ष्य पर किस प्रकार पहुंच सकेगा ? अन्ततः उसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा कि—'ओह ! मैं यहां आ पहुंचा ! यह मेरा अभीष्ट स्थान नहीं था। मेरा चलने का श्रम निरर्थक हो गया, बल्कि इससे मैं अपने लक्ष्य से और भी दूर आ पहुंचा।'

ऐसे पुरुष को उसी रास्ते वापिस लौटने में कितना शारीरिक, मानसिक कष्ट होगा। मगर लौटने के सिवाय दूसरा उपाय ही क्या है ? जब अपने लक्ष्य पर पहुंचना ही है और भूल से गलत रास्ता अख्तियार कर लिया है तो उसे छोड़ना ही पड़ेगा और सही राह पर आना ही पड़ेगा।

सज्जनो ! रास्ता बतलाने में मैंने कोई कसर नहीं रक्खी है। सवा महीने से, लगातार भिन्न-भिन्न हेतुओं और दृष्टान्तों से आपको रास्ता दिखला रहा हूँ। फिर भी कोई किधर और कोई किधर जा रहा है। यह तो मेंढकों की पंसेरी वाला हिसाब हो गया। वजन को पूरा करने के लिए चार मेंढक पलड़े में रक्खे तो दो निकल पड़े ! दो फिर चढ़ाये तो तीन फुदक कर नीचे कूद गये ! यह पंसेरी कभी पूरी होने वाली नहीं है !

आपको समझ लेना चाहिए कि मैं आपकी भलाई के लिए यहाँ सुनाने बैठा हूं। आप लोगों से मुझे कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है। मैं आपके हित का रास्ता बतला रहा हूँ। मगर आप

में से कितने लोग भगवान् के वचनों की भी चोरी किये विना नहीं रह सकते। दुनियादार दूकान पर वैठ कर तो चोरी कर ही लेते हैं, किन्तु यहाँ आध्यात्मिक मार्ग में भी कई प्रकार की हेरा-फेरी किये विना नहीं रहते। यह आश्चर्य की वात है !

मैं सावधान कर देना चाहता हूं—'होशियार रहो ! तुम्हें रास्ते में कई चोर मिलेंगे और कहेंगे कि यह रास्ता ठीक नहीं है, इस रास्ते से चलो तो जल्दी ठिकाने पहुँच जाओगे। किन्तु चलने से पहले रास्ता वतलाने वाले की भी परीक्षा कर लेना। भली-भाँति जाँच-पड़ताल कर लेना कि यह कौन है ? तुम्हारा हित-चिन्तक है या कोई चोर, उचक्का है या ठग ? सज्जनो ! दुनिया में ऐसे चोरों का जाल फैला हुआ है और वे दावा करते हैं कि हम लोगों को सही रास्ते पर ले जाते हैं और यही राजमार्ग है। वे तरह-तरह के प्रलोभन देकर, आकर्षण दिखला कर भोले जीवों को अपने कल्पित मार्ग पर ले जाते हैं और फिर ठग लेते हैं ! किन्तु तुम्हें भी वुद्धि मिली है और वुद्धि का फल तत्त्व की विचारणा करना है। अतएव अपनी वुद्धि से तत्त्व का निर्णय करके सही राह पर ही कदम उठाना चाहिए।

सज्जनो ! कितने ही मिथ्यात्वी लोग तुम्हारे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चरित्र रूपी धन को लूटना चाहते हैं। अतएव उनसे सावधान रहो। वे तुम्हें समीचीन पथ से विचलित करना चाहते हैं। वे एक प्रकार से नहीं, अनेक तरीकों से, अनेक चमत्कार दिखला कर तुम्हें अपने वशीभूत करने का प्रयत्न करेंगे। उनके जाल में अच्छे से अच्छे लोग भी फंस जाते हैं और पथभ्रष्ट हो जाते हैं। जिस रास्ते पर अनेक तीर्थंकरों की परम्परा चली आ रही है, चैतन्य के उपासकों का जो मार्ग चला आ रहा है और

जिस मार्ग पर चल कर अनेक भव्य आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की है, उसी पवित्र रास्ते से विचलित करने के लिए वे मिथ्यात्वी अनेक गलत उपाय और अनेक मिथ्या साधन बतला रहे हैं, तरह-तरह के आकर्षण दिखला रहे हैं, ताकि मोक्षाभिलाषी पथिकों का मन उस ओर खिंच जाय। वे पथभ्रष्ट होकर चौरासी के चक्कर में ही फिरते रहें।

पक्षी सीधी तरह शिकारी के कब्जे में नहीं आता, अतः वह बड़ा दाव-घात खेलता है। वह दाने बिखेर देता है, जाल बिछा देता है और उसकी डोर अपने हाथ में रख कर स्वयं कुछ दूरी पर बैठ जाता है। भोले पक्षी स्वतन्त्र रूप से आकाश में विचरण करते हुए नीचे दाने देखते हैं तो उस जनहीन जंगल में नीच उतर आते हैं, दाने चुगते हैं और शिकारी के जाल में फंस जाते हैं। एक बार फँसने के पश्चात् उनका मुक्त होना कठिन हो जाता है।

सज्जनो ! जो पापी जीव होते हैं, वे अनेक प्रकार के दाव-पेंच लड़ाते रहते हैं। आपके इस स्थानक के छज्जों पर बहुत-से कबूतर प्रातःकाल बैठते हैं। वे भोले प्राणी हैं। रात भर के बैठे-बैठ थके हुए विश्राम पाने के लिए सवेरे-सबेरे उठ कर मुंडेर पर आ बैठते हैं, किन्तु कम्बख्त बिल्ली को जाति प्रायः प्रतिदिन नियत समय पर आ कर छज्जे की ओट में, चुपके-से दबे पांव बैठ जाती है और मौका पाकर किसी-न-किसी को घात कर देती है। उस बिल्ली को किसी ने इस प्रकार बैठने की शिक्षा (ट्रेनिंग) नहीं दी है, फिर भी कषायोदय के कारण उसमें जन्मजात कपट वृत्ति विद्यमान है।

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया (कपटाई) और लोभ। नरक के जीवों में क्रोध का आधिक्य होता है। क्रोध के कारण नारकीय जीव

निरन्तर आपस में लड़ते, कटते-मरते रहते हैं। श्रीमद् जीवाभिगम सूत्र में वर्णन आता है कि वैकरियलब्धि से कुंथुवा का रूप बना कर, जिसकी चोंच लोहे की सी होती है, एक दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार आपस में एक दूसरे को व्यथित करते हैं, परस्पर एक दूसरे पर शस्त्र चलाते हैं और आपस में कट-कट कर कर्कश वेदना का अनुभव करते हैं। इसका कारण यही है कि उनमें क्रोध की मात्रा अधिक होती है। क्रोधी स्वयं दुखी होता है और दूसरों को भी दुखी करता है। क्रोधी जीव न शान्ति से रहता है और न दूसरों को शान्ति से रहने देता है।

क्रोध के आवेश में जीव उन्मत्त हो जाता है। अतएव ज़हर खाकर, फांसी लगा कर, कुंएं में पड़ कर या रेल के नीचे आकर मर जाता है। यह बातें प्रायः स्त्रियों में अधिक होती हैं, क्योंकि उनमें बुद्धि-विवेक विशेष नहीं होता और मानसिक दौर्बल्य की मात्रा अधिक पाई जाती है। किन्तु शास्त्र में कहा है कि:—

'अपघाती महापापी ।'

जो अपघात करके मरता है, उसे खोटी गति ही मिलती है। अतएव बहिनो; आप ध्यान रखना। आपको वीतराग देव की पावन वाणी को श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतएव परिवार में कभी किसी से झगड़ा हो जाए तो भी अपघात जैसे महापाप को हृदय में स्थान मत देना। कभी इस घोर पातक के आचरण का विचार भी न करना। बहिनों और भाइयों को अपघात का सौगंध ले लेना चाहिए।

(सब नर-नारियों ने हाथ ऊंचा करके अपघात का त्याग किया)।

सज्जनो ! यह क्रोध बड़ा ही भयानक शत्रु है। क्रोध के वशीभूत होकर बड़े-बड़े ज्ञानी भी ज्ञान भूल जाते हैं। कुछ ही दिनों की बात है कि अजमेर में एक ओसवाल भाई कुंएं में कूद कर मर गया। हमें ज्ञात हुआ था कि वह धर्म का ज्ञाता और आचरण करने वाला भी था।

पाठशालाओं में पढ़ने वाले कई बालक जब परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं तो आप अखबारों में पढ़ते होंगे, वे रेल के नीचे दब कर मर जाते हैं। भले मनुष्य की बुद्धि का इससे बढ़कर दिवालियापन और क्या हो सकता है ? इस प्रकार कट कर मर जाने से उसे क्या उत्तीर्णता प्राप्त हो गई ? क्या प्रमाणपत्र मिल गया ? वह अनुत्तीर्णता और लज्जा के कारण इस शरीर से तो मर गया किन्तु अपघात करके उसने अपने जन्म-मरण की शृंखला और भी लम्बी कर ली !

भाइयो ! दो पहलवान लड़ते हैं तो दोनों में से किसी एक की हार तो निश्चित है ही। सब लोग व्यापार करते हैं। उनमें से किसी को नफा और किसी को नुकसान होता है। यह हानि-लाभ और उतार-चढ़ाव तो संसार में होता ही रहता है। किन्तु इसके कारण अपने मूल्यवान् प्राणों को अपघात कर क्यों खो रहे हैं ? जीवित रहेगा तो फिर भी विद्याभ्यास कर लेगा। कदाचित् विद्याभ्यास न किया तो दूसरे प्रकार से जीवन का लाभ उठा सकता है; देश, समाज और धर्म की सेवा कर सकता है ! कहावत प्रसिद्ध है :—

'जिंदा रहे तो लाखों पाये।'

अतएव इन अनमोल प्राणों को वृथा गंवा देना महामूर्खता

है। याद रखना चाहिए कि सारे संसार की सम्पदा एक ओर हो और प्राण दूसरी ओर हों तो भी प्राण अनमोल ही रहेंगे।

पुराने ज़माने में कितनी ही स्त्रियाँ अपने पति का मरण हो जाने पर, उसके मोह में फँस कर, उसके साथ ही जल मरती थीं। अज्ञानी जन उन्हें 'सती' कहते थे और उसके दाहसंस्कार के स्थल पर स्मारक खड़ा करके उसके आगे मत्था रगड़ते थे। आज भी कभी-कभी और कहीं-कहीं इस प्रकार की घटना घटित हो जाती है, यद्यपि आज की सरकार की ओर से इसपर प्रतिवन्ध लगा हुआ है। आश्चर्य तो इस वात पर है कि कई जैन भाई भी, जो इस प्रकार जल मरना लोक-मूढ़ता कहते हैं, उन स्थानों पर जाते हैं और तरह-तरह की मान्यताएँ कवूल करते हैं।

मुझे स्पष्ट कहना चाहिए कि ऐसा करने वाले लोगों ने जैन धर्म को समझा ही नहीं है। उन्होंने जैन-दर्शन को हृदय में उतारा ही नहीं है। तभी तो जैन धर्म के अनुयायी होकर भी लोग मनौती मनाने के रूप में सती-प्रथा का अनुमोदन कर रहे हैं, उसे अच्छा वतलाते हैं और उत्तम मरण कहते हैं। शास्त्र की दृष्टि से स्पष्ट ही वह अपघात है। वह वालमरण है, समाधिमरण नहीं है। वह आत्मकल्याण के लिए नहीं मरी है, वरन् दुःख और शोक को सहन न कर सकने के कारण मरी है। मेरे सुख के सभी साधन नष्ट हो गए, मैं निराधार हो गई ; इस दुःख से मरी है। अतएव शास्त्रकारों ने इसे अकाममरण कहा है।

जोधपुर में राजघराने की एक वाई पति के साथ ही जल कर मर गई। कुछ समय वाद मैं भी वहीं जोधपुर पहुंच गया। मैंने देखा कि आदमी तथा औरतें लारियों में भर-भर कर जा रहे हैं। मैंने लोगों से पूछा—'क्या वात है ? क्या कोई मेला है ?'

तब मुझे बतलाया गया कि एक राजघराने की स्त्री सती हो गई है, ये लोग जहां वह फूंकी गई है, वहां उस मही रूप सती के दर्शन करने जा रहे हैं।

मैंने देखा कि जैन धर्म के धोरी श्रावक भी मिथ्यात्व में फँस गये हैं। लोगों ने उसकी बड़ी महिमा की। तरह-तरह की किंवदन्तियाँ प्रचलित हो गईं। कोई कहने लगा—कल यहाँ मरी और आज हरद्वार में स्नान कर रही थी। अब लोग उसकी चिता पर जाकर फूलमालाएँ चढ़ाते हैं, रुपये चढ़ाते हैं और मिन्नतें करते हैं। पुजारियों को पुजापा मिलता है, माल मिलता है, रुपया-पैसा मिलता है, वे मौज उड़ाते हैं। फिर तारीफ़ क्यों न करें? दूर-दूर से दुनिया के लोग दर्शन करने आने लगे। आखिर आर्यसमाज की ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि ऐसा क्यों हो रहा है? यह धन की बर्बादी क्यों की जा रही है? तब सरकार को वहाँ जाने वालों पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा।

दुनिया तो अंधी गधी की साथी है। चाहे उसे चोर ले जाय या और कोई ले जाय। उसे विवेक से वास्ता नहीं। लोग देखा-देखी करते हैं। बुद्धि से काम नहीं लेते।

सज्जनो! इस प्रकार अग्नि में गिर कर जल जाना, पहाड़ से गिर जाना, रेल के नीचे दब कर कट जाना या कुंएं में कूद कर मर जाना, आदि-आदि सब बालमरण हैं। यह अज्ञानी का मरण है, मूर्ख का मरण है। परन्तु बुद्धिमान् का मरण नहीं है।

कई लोग हमें मिलते हैं और ऊब कर कहते हैं—महाराज! ऐसी दुर्दशा हो गई है! कई अपने दुःखों की कहानी सुनाते हैं और कहते हैं—कई बार मन में आता है कि इन पापी प्राणों का

परित्याग कर दिया जाय ! जिंदगी से पिण्ड छुड़ा लिया जाय ! मगर भाई ! मरने से क्या होगा ? दुःख का जो कारण है, जिसकी बदौलत मुसीबत आ रही है, वह तो प्राण छोड़ देने पर भी नहीं छूटेगा। यह शरीर यहाँ रह जायगा किन्तु कष्टों का कारण-भूत पाप-पुण्य का थैला कार्मण शरीर तो साथ ही जायगा। ऐसी स्थिति में मर जाने से ही क्या दुःख दूर हो जायंगे ?

याद रक्खो, जितने यहां बैठे हैं, सब मर-मर करके आये हैं। कोई भी जीते जी नहीं आया और कोई कहीं से पार्सल होकर नहीं आया। अगर मरने मात्र से ही सब दुःखों का अन्त हो जाता है तो सभी मर कर आने वालों के दुःख दूर क्यों नहीं हो गये ? किन्तु मरने मात्र से दुःख नहीं छूट सकते, धर्म करने से दुःख दूर होंगे। आर्त्तध्यानपूर्वक मरने वाला जीव तो अनेक प्रकार के नये कष्टों का पात्र बनता है। और जाति-पंथ को लम्बा कर लेता है।

शास्त्र में एक शब्द आया है—जातिपंथ। तो एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक जातिपंथ है। बालमरण करने वाला जीव उनमें पुनः पुनः जन्म लेता है।

मगर जाति की परिभाषा क्या है ? जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उसी पर्याय में रहना जाति की परिभाषा है। जाति को बदला नहीं जा सकता, परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यह जो ओसवाल, पोरवाल, खंडेलवाल, अग्रवाल आदि-आदि जातियां हैं, सब कल्पित हैं। यह कर्मजनित जातियां नहीं हैं। यह किसी समय बाड़ाबंदी के रूप में या दूसरे रूप में बनी हैं। भगवान् महावीर की दृष्टि में और दूसरे अनन्त तीर्थंकरों की दृष्टि में, मनुष्य जाति एक है और उसी में सभी मनुष्यों और स्त्रियों का

समावेश हो जाता है। परन्तु आजकल के जातिवादी केवलियों से भी दो क़दम आगे निकल गये हैं। भगवन्तों ने मनुष्य मात्र को एक ही धड़े में रक्खा है, परन्तु इन जातिवादियों ने उसके बीच भी तरह-तरह की दीवारें खड़ी कर दी हैं। परन्तु याद रखना, भगवान् के वचनों के विरुद्ध की जाने वाली यह कल्पनाएं दूसरों का कुछ भी बिगाड़ न कर सकेंगी, उलटे ऐसी कल्पना करने वालों को ही दुःख उठाना पड़ेगा।

सर्वज्ञ देव की आज्ञा का पालन करने में ही धर्म है और उसी में सुख है। जो भगवान् के बतलाये रास्ते पर चलेंगे, वही दुःखों से बचेंगे। वीतराग के मार्ग का विरोध करने वाले और अपने कल्पित मार्ग पर चलने वाले लोग दुःख से बच नहीं सकते।

हां, तो मैं कह रहा था कि बालमरण करने वाला जीव एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जातिपंथों में भ्रमण करता रहता है। प्रत्येक संसारी जीव ने अनन्तानन्त बार बालमरण किये हैं। मगर उनसे जीव का निस्तार नहीं हुआ। संसारी जीव का जब भी निस्तार होगा, समाधिमरण से ही होगा। बालमरण तो जन्म-मरण की परम्परा में वृद्धि करता है।

शास्त्र में तीन प्रकार के मरण बताये हैं—पण्डितमरण, बालमरण और बालपण्डितमरण। जो पवित्र-आत्मा पुरुष आलोचना करके, अपने पापों की निन्दा करके, साधना करके, प्रायश्चित करके, निःशल्य होकर, समस्त पापों का त्याग करके, धर्मध्यान में लीन होकर, काम आदि की ममता का त्याग करके, सबसे क्षमायाचना करके शरीर का त्याग करता है, उसका मरण पण्डितमरण कहलाता है।

कवि कहता है :—

मरण मरण सब कोइ कहे, मरण न जाने कोय ।
एक मरण ऐसा मरे, फिर मरना नहिं होये ।।

सज्जनो; मरने की आवाज़ तो चारों ओर से आ रही है। पंजाबी भाषा में कहा है :—

एक आमंदा एक जामंदा, तेरा मेरा सच्च ।
तेरा कागज वंच गया, मेरा क़ागज हत्थ ।।

एक आ रहा है, एक जा रहा है। संसार का यही क्रम है जो अनादि से चल रहा है और अनन्त काल तक चलने वाला है। किसी का कागज़ वांचा जा चुका है और किसी की मिसल वंचने के लिए तैयार है। संसार मुसाफिरखाना है। यहां अनन्त जीव आ रहे हैं और अनन्त जीव जा रहे हैं।

कोई कह सकता है कि जीव आते-जाते नज़र नहीं आ रहे हैं; मगर भाई; नज़र आयेंगे कैसे ? स्थूल शरीर वाले जीवों का आना-जाना तो नज़र आता है, मगर सूक्ष्म शरीर वालों का आना-जाना नज़र नहीं आता। जीव जब एक गति का त्याग करके दूसरी गति में जाता है, तो स्थूल शरीर उसके साथ नहीं होता। केवल तैजस और कार्मण शरीर साथ रहते हैं। वे दोनों सूक्ष्म हैं। इस कारण जीवों का आना और जाना हमें दिखाई नहीं देता। उस समय जीव की इतनी सूक्ष्म अवस्था होती है कि वह पृथ्वी को, पहाड़ को, यहां तक कि वज्र को भी भेद कर निकल जाता है। उसे रोकने की शक्ति किसी में नहीं है। आपको विदित होना चाहिए कि जीव की गति अप्रतिहत है, उसमें रुकावट डालने की सामर्थ्य किसी में नहीं। अगर जीव

की गति रोकी जा सकती होती तो कोई भी अपने प्रिय जन को न जाने देता। किन्तु सात तालों में बन्द कर देने पर भी जीव रुक नहीं सकता। अगर किसी जीव को नीचे सातवें नरक के आवासांतर में उत्पन्न होता है तो वह कितनी पृथ्वियों को भेद कर उत्पन्न होता है ? वह सात पृथ्वियों को भेद कर जाता है।

पृथ्वियां आठ भी होती हैं। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि सात तो हैं ही, आठवीं पृथ्वी सिद्धशिला है। लोकोपरी भाग में, अन्त में, उत्पन्न होने वाले जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय के रूप में वहां उत्पन्न नहीं होते। वहां पांच सूक्ष्म हैं और एक बाहर वायुकाय है। लोकान्त में त्रसनाली से बाहर त्रसजीव उत्पन्न नहीं होते।

सज्जनो; तनिक विचार तो करो कि ज्ञानियों ने सृष्टि का किस प्रकार मंथन किया है ? उनके दिव्य ज्ञान से कोई चीज़ छिपी नहीं रही। उन्होंने अपने ज्ञान में जो देखा है, वही कहा है। ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा है कि दो-इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के हलन-चलन करने वाले त्रसजीव एक नियत सीमा में, खास हद में ही पैदा होते हैं और उससे बाहर पैदा नहीं होते। उस सीमा या हद को ही त्रसनाडी कहते हैं। यह त्रसनाडी चौदह राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी है। जो भी जीव त्रसपर्याय में उत्पन्न होते हैं, इस त्रसनाडी में ही उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य यह है कि संसारी जीव चाहे लोकाकाश के अंतिम छोर पर, जहां से अलोकाकाश आरंभ हो जाता है, उत्पन्न हों; चाहे नीचे से नीचे—सातवें नरक से नीचे के लोकान्त में उत्पन्न हों,

मगर उन्हें मरना अवश्य ही पड़ेगा। मृत्यु सबके लिए अनिवार्य है। चाहे कोई भूमि पर सोने वाला हो अथवा सोने की शय्या पर पौढ़ने वाला हो, मृत्यु का विधान सबके लिए समान है। अगर कुछ फर्क है तो वह यह है :—

है तफावत बोरिया और तख्त में ताज़िदगी।
मौत का काबू बराबर है, गदा ओ शाह पर ।।

सज्जनो ! इस शेर का भाव आपकी समझ में नहीं आया होगा। यह भाव ही दूसरा है। यह बाजार भी दूसरा है और इसके खरीददार भी कोई और ही हैं। अगर आप इसकें ग्राहक होते तो आपकी समझ में आ जाता।

अच्छा समझ लीजिए। गरीब और अमीर—सब को मरना पड़ता है। कराल काल किसी का लिहाज़ नहीं करता है। एक गरीब है, वह बोरी के तप्पड़ पर सोने वाला है। दूसरा अमीर है जो मणिज़टित स्वर्ण के तख्त पर सोने वाला है। किन्तु फर्क क्या है ? फर्क है भी और नहीं भी है। है तो यही कि एक टाट पर औंर दूसरा शाही तख्त पर सोता है, किन्तु मरने की जो दुनिया है और मरने की जो घटना है, वह दोनों की बराबर है। इस लिहाज़ से दोनों में कोई फर्क नहीं है। टाट पर सोने वाला ही मरेगा और खाट पर सोने वाला अमर रहेगा, यह कदापि संभव नहीं है। शहंशाह अमीर को हीरे-पन्ने का तख्त मौत के मुख से बचा नहीं सकता। हां, हो सकता है कि सोने के तख्त पर सोने वाले को मौत महंगी पड़ जाय। क्योंकि उसपर सोने वाला प्रायः बहुत आरंभ-समारंभ करता है और आततायी होता है तथा गरीबों के उत्पीड़न पर उसका ऐश्वर्य निर्भर होता है।

ज़मीन पर मस्ती की नींद सोने वाले में प्रायः यह बात नहीं होती। इस कारण सोने के तख्त पर सोना बड़ा महंगा पड़ता है।

एक राजा का भवन बड़ा ही भव्य था। जो उसे देखता, अत्यन्त प्रसन्न हो जाता था। संसारी जीव, जो राग-द्वेष के वशीभूत है, जिस वस्तु को सुन्दर समझता है, उसे देखकर प्रसन्न हो जाता है और बुरी वस्तु को देखकर खिन्न हो जाता है। मोह के उदय से अच्छे पर राग और बुरे पर द्वेष का भाव जागृत हो ही जाता है।

हां, तो राजा वर्षा ऋतु में दो-तीन मास के लिए उस भवन में निवास करने को चला जाता था और वहीं मौज करता था। उस महल में सिंहासन तथा सजावट के सब सामान मौजूद थे। एक बार ज़मीन पर पैदल घूमने वाला दरवेश (महात्मा)—जो सिर और पैरों से नंगा था, घूमता-घूमता आ निकला। उसकी दृष्टि महल पर पड़ी तो सोचा—बस्ती दूर है, अतः यहीं कुछ पेट भरने को मिल जाय तो ले लूं। और विश्राम स्थान भी ठीक है। ऐसा सोच कर वह बेधड़क उस महल में घुस गया। आगे गया तो कोई नज़र नहीं आया। कुछ और आगे गया तो एक बड़ा भारी कमरा दिखाई दिया। वह उसके भीतर चला गया, किन्तु वहां उसे अद्भुत ही दृश्य दिखाई दिया। उसने देखा, कमरे में जहां-तहां, तरह-तरह की खुशनुमा चीजें आरायिश की हुई हैं। फर्श पर मखमल के मुलायम कालीन बिछे हैं और खुशबू अजब बहार दिखला रही है। सामने ही सोने का पलंग है, जिसपर करीब डेढ़ मन फूलों की कलियां चुन-चुन कर बिछाई हुई हैं। यह सब देखकर उस महात्मा ने सोचा—यह शयन के लिए ठीक है। वह बेफिक्र होकर उसपर सो गया।

सज्जनो ! राजा जब भी वहां आता तभी इस प्रकार उसके शरीर को सुख देने के लिए असंख्य जीवों के—फूलों के जीवों के—प्राण लूट लिये जाते थे। आपको पता ही है कि फूल में भी जीव है। कवि ने कितना सुन्दर कहा है :—

पापी जीवड़या ! राम नाम मुख बोल पापी जीवड़या
कुछ नहीं लगदा मोल, पापी जीवड़या ;
जीवड़या मुंह दा जंदरा खोल पापी जीवड़या

बड़े-बड़े पापी हत्यारे, राम नाम ने पल में तारे।
हो गये पार ोल ;

ही प्राणी जीना चावे, कली-कली में जीव रहावे।
ना उना नुं तोड़, पापी जीवड़या ॥१॥

जानाएं मस्जिद मंदिर, तेरा दिलवर तेरे अन्दर।
दिल विच ने टोल, पापी जीवड़या ॥२॥

देख पदार्थ दृश्य निराले, कर दिल नुं ऐश हवाले।
हो ना डांवांडोल, पापी जीवड़या ॥३॥
प्रभु नाम दा त प्याला, पी ले बन के किस्मत ।
वृथा जन्म न रोल, पापी जीवड़या ॥४॥

हे सज्जनो ! तुमको रसना मिली है, जबान मिली है और बोलने की शक्ति मिली है, तो उससे किसी की निन्दा न करो, चुगली मत करो, बुराई मत करो। तुमसे बन सके तो गुणी जनों के गुण गाओ और भगवान् के गुणों का कीर्तन करो। परन्तु इस जीव को इतना विवेक कहां है ? यह जीव राम-नाम कब बोलता है ? यह जीते जी नहीं बोलता। इसे तो मरने पर लोग

सुनाते हैं—'राम नाम सत्य है !' जीते जो बोल लेता तो काम बन जाता। मगर हंस के उड़ जाने पर फिर क्या होने वाला है ! मरने वाला तो मर गया। अतएव हे प्राणी ; तू राम का नाम बोल—अरिहंत का गुणगान कर। ऐसा करने से तेरी जीभ सफल और पवित्र हो जायगी। गुणी जनों के गुणों का गान करने में कुछ खर्च नहीं होता है। सहज में, यों ही जीव लाभ का, पुण्य का भागी हो जाता है। अतएव अरे जीव ! तू मुख का ताला खोल दे। जब निन्दा, चुगली और विकथा करने का समय आता है तो ताला फौरन खुल जाता है और जब गुणियों के गुण गाने का वक्त आता है तो ताला बन्द हो जाता है ! यह जीव की उलटी परिणति है। हे भाई ! तेरे हाथ में है यह ताला खोलना और बन्द करना। बस, यूं या यूं का ही अन्तर है। चाबी वही है और तेरे ही हाथ में है; केवल घुमाने का अन्तर है। जब आत्मा निन्दा-विकथा की ओर जाता है तो उसके विकास का ताला बंद हो जाता है और जब गुणगान करता है तो कल्याण का ताला खुल जाता है।

हां, तो मैंने कहा था—'कली-कली में जीव रहावे, सब ही प्राणी जीना चावे।' सब जीव जिंदा रहना चाहते हैं। इस संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं जो जीना न चाहता हो। सभी प्राणियों की जीवित रहने की ही कामना होती है और सभी प्राणी सुख चाहते हैं। कोई न मरना चाहता है, न दुःख चाहता है। यह शास्त्र की घोषणा है और ज्ञानी जन कहते हैं कि—ऐ पुरुष तू गफ़लत में पड़कर, कैसी कुंभकर्णी निद्रा में सो रहा है ! क्या तू यह समझता है कि काल नहीं आयगा ? किन्तु वह तो आयगा और अवश्य आयगा और बार-बार आयगा !

ज्ञानी पुरुषों ने क्या घोषणा की है ? सुनो :—

नत्थि कालस्सऽणागमो । सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा । सव्वेसिं जीवियं पियं । —आचारांग प्र. यु. द्वि. अ. तृ. उ.

अर्थात्—यह समझना भूल है कि कभी मौत नहीं आयगी । अतएव इस जीवन का अन्त अवश्यंभावी है, यह अटल विधान दृष्टि के समक्ष रखकर समझो कि सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है । सभी को सुख प्रिय है—सभी सुख में आनन्द और आराम मानते हैं, दुःख सभी को प्रतिकूल प्रतीत होता है—दुःख किसी को भी नहीं भाता है । अपना वध कोई नहीं चाहता, सबको जीवन प्यारा है और सभी जीवित रहने की कामना करते हैं ।

सज्जनो ! संसारी जीवों की यह जो कामना प्रकट की गई है, वह सभी के लिए स्वानुभव से भी सिद्ध है । फिर भी आज हो क्या रहा है ? सुबह ही सुबह मूर्ति पर चढ़ाने के लिए फूलों के टोकरे के टोकरे, एकेन्द्रिय जीवों को तोड़ कर मरोड़ कर भर लिये जाते हैं । वह किस के लिए ? कोई सूंघने वाला भी तो हो; मगर वहां तो लाइन ही साफ है ! मुर्दे को फूल सुंघाया जाय तो कौन सूंघे ? मुर्दे को खिलावे तो कौन खावे ? मुर्दे को बाजा सुनाया जाय तो कौन सुने ? जहां प्राणों का वध हो वहां भगवान् की आज्ञा नहीं है । कहा है:—

पुष्प-पांखुड़ी जहां दुभाय,
तहं जिणवर की आज्ञा नाय ।

करोड़ वाले को करोड़ काम आयेंगे, किन्तु गरीब के पास जो पचास हैं तो उसके लिए वही बहुत हैं। वही उसके काम आयेंगे। पंचेन्द्रिय को अपने प्राण प्यारे हैं। तो एकेन्द्रिय को भी अपने प्राण प्यारे हैं। चाहे पंचेन्द्रिय हो चाहे एकेन्द्रिय हो, सभी जीव जीना चाहते हैं। अतएव प्राणियों के प्राणों का हनन करना घोर पाप है। पाप के भी दो मार्ग हैं—अर्थदण्ड पाप और अनर्थ-दण्ड पाप। गृहस्थों को मकान बनवाने के लिए, खाने-पीने के लिए और धंधा करने के लिए पाप करना पड़ता है। यह मजबूरी हालत में, प्रयोजन की पूर्ति के लिए, पाप करना पड़ता है। यह आरंभी हिंसा है। अर्थदण्ड पाप है। मगर दूसरा होता है अनर्थदण्ड पाप। हिंसा भी की, पाप भी किया। किसी के बसे घर को भी उजाड़ा; मगर अपना भी घर न बसा, कोई प्रयोजन सिद्ध न हुआ! यह अनर्थदंड पाप कहलाता है। अर्थात् जिस हिंसा से कोई लाभ नहीं, कोई प्रयोजन की सिद्धि नहीं, जिस हिंसा के न करने पर कुछ बिगड़ता नहीं, वह निरर्थक हिंसा कहलाती है। श्रावक के लिए अर्थदण्ड तो खुला रक्खा गया है, पर अनर्थदण्ड त्याज्य ठहराया गया है। आपको मालूम होना चाहिए कि श्रावक के आठवें व्रत में क्या बतलाया गया है? भगवान् महावीर ने गृहस्थ को क्या शिक्षा दी है? भगवान् का उपदेश है कि अनर्थदण्ड से, निरर्थक पाप से, जिससे किसी को कोई लाभ न हो ऐसे पाप से गृहस्थ को अवश्य ही बचना चाहिए। जहां किसी को बर्बाद करके, मिटा करके भी किसी का भला न होता हो, वे सब क्रियाएं अनर्थदण्ड में चली जाती हैं। अर्थदण्ड से अनर्थदण्ड का पाप अधिक है। केवल ज्ञानियों ने जो निर्णय दिया है, वही चलेगा और वही मान्य होगा। किसी की कपोल-कल्पना काम नहीं आयेगी।

कहने को तो कोई भी कह देगा कि जड़ मूर्ति पर पुष्पादि चढ़ाने से सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु हमको तो सिद्धि बतलाओ ! किसी सजीव वृक्ष को पानी दिया जायगा तो वह फल देगा, फूल देगा, छाया देगा, किन्तु यदि सूखे वृक्ष को पानी दोगे तो उसकी जड़ों में पानी देना अनर्थदण्ड है । उलटे, पानी देने से वह लकड़ी गल जायेगी । अतएव सूखे पेड़ को कोई पानी नहीं देता और यदि कोई देता है तो वह मूर्ख कहलाता है । मैं आप से ही पूछता हूं कि सूखे वृक्ष को पानी देने वाले को आप क्या कहोगे ? 'मूर्ख!'

मगर ऐसे जड़ोपासक मूर्ख भी इसी दुनियां में रहते हैं । उनका सम्यक्त्व क्या शुद्ध कहा जा सकता है ?

किसलिए अनर्थदण्ड कर रहे हो ? तुम एकेन्द्रिय जीवों के प्राण धर्म और देव के नाम पर लूट रहे हो, मगर उस लूट से किसी का भी तो भला नहीं हो रहा है ! कहावत है—खसम भी किया मगर फिर भी घर नहीं बसा । फिर भी बाई जी जैसी की तैसी रह गई ! जूठन भी खाई और मुंह मीठा भी न हुआ । अनर्थदण्ड के पाप के भागी भी हुए और कुछ आत्मलाभ भी न हुआ !

आप दूसरों की जेब में से दाम निकलवाने में तो होशियार हो, किन्तु धर्म-पक्ष में आपकी बुद्धि कहां चरने चली जाती है ? कहीं दीवालिया बैंक में तो नहीं चली जाती ?

अरे भाइयो ! मिथ्यात्व का निर्णय करके त्याग क्यों नहीं करते ? मैं अनुमानतः सवा महीने से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप समझा रहा हूं; फिर भी मेरी ही मौजूदगी में डाका पड़ रहा है । कितनेक भाई और बहिनें तीर्थंकरों की चित्रवाली आनु-

पूर्वी को मत्था रगड़ रहे हैं। यह सम्यक्त्व के प्रति डाका नहीं तो क्या है ?

सज्जनो ! यह जीवन की कड़ियाँ, यह जीवन की लड़ियाँ, बार-बार मिलने वाली नहीं हैं। पहले जो पुण्य किया था, उसके प्रताप से यहाँ यह सब साधन प्राप्त हो गये हैं। अतएव विवेक को अपनाओ और धर्म-अधर्म का विचार करो। मगर आप लोगों की प्रवृत्ति कुछ निराली ही नजर आ रही है। कोई कहीं फूल चढ़ाता है, कोई पानी और कोई तेल चढ़ाता फिरता है। तेल में चिपक कर हजारों कीड़ियाँ मर जाती हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि तेल चढ़ा तो दिया, मगर उससे किसी का भी कलेजा तर हुआ ? वह तेल व्यर्थ गया और जीवों की हिंसा का पाप कमाया; किसी मनुष्य को वह तेल दे दिया होता तो काम तो आता ! किसी की आवश्यकता की पूर्त्ति तो होती ! मगर यह सब अनर्थ-दण्ड के रूप हैं। उनके पीछे कोई वास्तविक योजना नहीं है।

मैं बार-बार तुम्हें चेतावनी दे रहा हूं कि जब तक तुम मिथ्यात्व का त्याग नहीं करोगे, तब तक कर्मों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकोगे।

भगवती सूत्र में कहा है कि देवता भी फूल में आकर उत्पन्न होते हैं। फूलों में असंख्यात देव उत्पन्न होते हैं। उनका पुण्य क्षीण हो गया तो स्वर्ग का सुख छूट गया और उन्हें फूल में जन्म लेना पड़ा। उन्होंने समझा था कि यहाँ सुरक्षित रहेंगे, मगर मां के पूतों ने उन्हें तोड़ लिया और कष्ट पहुंचाया।

तो सब प्राणी जीना चाहते हैं, अतएव फूलों को भी मत तोड़ो। तुम दूसरों को तोड़ोगे-मरोड़ोगे तो इसका बदला चुकाना पड़ेगा। तुम्हारे अंग-उपांग भी तोड़े जायंगे और मरोड़े जायंगे।

तुम्हारा किया कोई भी अत्याचार खाली या निष्फल होने वाला नहीं है। दुनियादारी के कामों में तो आरंभ-समारंभ होता ही है; केवल धर्म का क्षेत्र ही ऐसा था कि जहां हिंसा से बचाव हो सकता था। क्योंकि धर्म का स्थान हिंसा से ऊँचा था, मगर क्या कहा जाय ! लोगों ने धर्म-स्थान को भी शुद्ध नहीं रहने दिया।

सज्जनो ! शास्त्र का उल्लेख है—प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है कि जो धर्मबुद्धि से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है, वह जन्म से जन्मान्तर, गर्भ से गर्भान्तर और मरण से मरणान्तर को प्राप्त होता है और उसे निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती।

भद्र पुरुषो ! धर्मशास्त्र रूपी वही-खाता खुला है। निकाल कर देख लो। पढ़ लो। यह कोई काले बाजार का माल नहीं है। यहाँ दो वही-खाते नहीं हैं—सरकार को दिखाने का और तथा घर का और, यहां एक ही खाता है। ईमानदारी है। भगवान् के वचन हैं कि जो धर्मबुद्धि से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं, वे मन्दबुद्धि हैं, अर्थात् मूर्ख हैं, विवेकहीन हैं, बेसमझ और नादान हैं, फिर वे चाहे कितने ही शास्त्रों के पारंगत क्यों न हों !

ओ ज्ञानी ! ज्ञान प्राप्त करने का फल क्या है ? ज्ञान सीखने का सार और लाभ क्या है ?

'एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई कंचणं।'

ज्ञान सीख कर हिंसा से बचो। किसी भी प्राणी को कष्ट न दो, जो ज्ञानी होकर स्वयं हिंसा करता है और भक्तों से करवाता है—यहां पुष्पपूजा है, पुष्प चढ़ाओ, फल पूजा है, फल चढ़ाओ, इस प्रकार का आदेश-उपदेश देता है, वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी है।

सज्जनो ! अज्ञान की अपेक्षा कुज्ञान अधिक हानिकारक होता है । अज्ञानी से उतना खतरा नहीं होता, जितना कुज्ञानी से । अज्ञानी को ज्ञान प्राप्त नहीं है, वह योग मिलने पर ज्ञान प्राप्त कर सकता है और दूसरों को कुपथ पर नहीं ले जा सकता; किन्तु जो सब कुछ जानता है, अपने को पंडित कहता है, शास्त्रों का ज्ञाता मानता है, फिर भी आरंभ में, हिंसा में, धर्म मानता है, वह कुज्ञानी है । वह अज्ञानी से अधिक भयंकर है । अज्ञानी कभी न कभी मार्ग पर आ सकता है, किन्तु वह खरड़ज्ञानी न इधर का रहता है और न उधर का रहता है ।

एक दाना होता है पूरा पका हुआ, जिसका फूला बन जाता है, वह खाने के काम आता है । दूसरा जो पूर्णरूप से कच्चा होता है, वह ज़मीन में बोने से नये दाने उत्पन्न करता है और तीसरा ऐसा होता है जो न पूरा सिका हुआ और न कच्चा ही । उसे ज़मीन में डाला जाय तो उगेगा नहीं और पेट में डालो तो दर्द उत्पन्न करेगा । इस प्रकार कच्चा दाना भी काम में आ जाता है, सिका हुआ भी काम में आता है, परन्तु अधकच्चा-पक्का दाना गड़बड़ मचाता है ।

अगर आपमें से एक-एक की परीक्षा ली जाय तो पता चले कि कौन किस श्रेणी में है ?

अनजान को समझाया जाय तो वह सरलतापूर्वक समझ सकता है और धर्म की महिमा कर सकता है । जो विज्ञ है—पका है अर्थात् वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है, उसका तो कहना ही क्या है ? मगर जो अधकच्चा है, यानी जो न तो ज्ञानी है और न पूरा मूर्ख ही है, उसका समझना और उसे समझाना बहुत कठिन है । कहा भी है :—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं, ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति ।।

जो अज्ञ होने पर भी अपने को विज्ञ मानता है और अपने ज्ञान के मद से उन्मत्त बना रहता है, उसे विधाता भी नहीं समझा सकता। ऐसे लोग संसार को अधिक हानि पहुँचाते हैं।

तो मैं कह रहा था कि जो लोग धर्मबुद्धि से हिंसा करते हैं, वे गहरे अन्धकार में हैं और वह हिंसा उनके अहित का कारण होती है, कष्टों और मुसीबतों का कारण बनती है। उनका श्रद्धान विपरीत है, क्योंकि वे अधर्म को धर्म समझते हैं। ऐसे विपरीत श्रद्धा वालों को समकित प्राप्त नहीं होती। आत्मा के लिए यह कितनी हानिजनक अवस्था है ?

आप लोग संसार के व्यापार संबंधी घाटे को घाटा मान लेते हैं और झट से उसका आंकड़ा बना लेते हैं और समझ लेते हैं कि हमें इतना घाटा हो गया, परन्तु आध्यात्मिक घाटे का भी कभी विचार करते हैं ? कभी आत्मा के वही-खाते को भी टटोला है ? कभी सोचा है कि मैंने इस जीवन में, धार्मिक क्षेत्र में कितना नुकसान कर डाला है और कितना लाभ उठाया है ? भूल कर भी कभी सोचते हो कि मैंने दूसरों को कितना दुःख दिया है, कितना लाभ पहुंचाया है और क्या-क्या खोटे कर्म किये हैं ? दुकानदारी में तो बाप-बेटा मिलकर ऐसे बैठते हैं कि हिसाब में एक पैसे का अन्तर रह गया हो तो घंटों बिगाड़ देते हैं और दो-दो आने का तेल भी खर्च कर देते हैं और उस अन्तर को निकाल देने की पूरी कोशिश करते हैं, मगर कभी इस जीवन को भी इस प्रकार टटोलते हो ? इसका भी कुछ हिसाब-किताब रखते हो ? इसलिए भद्र पुरुषो ! अपने जीवन को भी टटोलो और उसका परिमार्जन करो।

श्रावक के लिए १४ नियम बतलाये गये हैं । उन्हें प्रतिदिन प्रात:काल धारण करना चाहिए और सन्ध्या समय सोचना चाहिए कि मैंने जो नियम अंगीकार किये थे, उनमें से किसी का भंग तो नहीं हुआ है ! प्रतिदिन किया जाने वाला प्रतिक्रमण क्या है ? यह रोज़ का धर्म-अधर्म का और पुण्य-पाप का हिसाब मिलाना ही है । मगर आप वही-खाते के पन्ने तो पलट लेते हो किन्तु हिसाब नहीं मिलाते । अर्थात् प्रतिक्रमण के पाठ बोल लेते हो किन्तु धर्म-अधर्म का हिसाब नहीं करते ।

'सत मत छोड़ो हे नर, सत छोड़े पत जाये
सत की बांधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय'

और:—

गोधन, गजधन, रत्न धन, कंचन खान सुखान ।
आवे संतोष धन, धन धूल समान ।।

आदि-आदि बोल कर आप अपने प्रतिक्रमण को लंबा बना लेते हो और वही-खाता उलट-पुलट लेते हो, परन्तु जोड़ भी कभी लगाते हो ? जमा और नाम की राशियों का भी कभी मिलान करते हो कि आज धर्म अधिक किया है या अधर्म अधिक किया है ? आज मेरे व्रत में कोई दोष तो नहीं लगा है ? इस प्रश्न पर भी कभी आत्मसाक्षी से चिन्तन किया है ? आपको इन बातों का भी विचार करना चाहिए । ऐसा विचार किये विना आत्मा की मलीनता समझ में नहीं आती और जब समझ में ही नहीं आती तो दूर कैसे की जा सकती है ? मलीनता दूर हुए बिना आत्मा का उज्ज्वल स्वरूप प्रकट नहीं होता है, उत्थान नहीं होता है ।

जैसे घर से कोरे आये थे, वैसे ही कोरे लौट गये तो क्या लाभ हुआ ? नहीं, दुकान खोली है तो पन्ने भी पलटो और रकम

भी संभालो । हिसाव में गड़वड़ हो जाती है तो कोई रकम भी दवा लेता है । मामला न्यायालय में ले जाना पड़ता है तो उसे प्रमाणित करने के लिए हजारों खर्च करने होते हैं । फिर भी कौन जानता है कि निर्णय तुम्हारे पक्ष में होगा या नहीं ? वहां भी तो ऐसे लोग वैठे हैं जो रिश्वतखोर हैं और जिनके लिए सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य के रूप में दिखला देना बायें हाथ का खेल है ।

एक महाजन का उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) में मुकदमा चल पड़ा । पेशियों पर पेशियां चलती रहीं । कई महीने ही नहीं, कई वर्ष पेशियों ही पेशियों में व्यतीत हो गये । वादी तथा प्रति-वादी-दोनों परेशान और हैरान हो उठे । जब उस महाजन के मामले की कई पेशियां हो चुकीं, तो न्यायाधीश ने एक दिन कहा —अगली पेशी पर फैसला सुना दिया जायगा । इस प्रकार निर्णय की तिथि नियत हो गई । मुद्दई और मुद्दायला दोनों चौकन्ने हो गये और दाव-पेंच लड़ाने लगे कि हमारे पक्ष में फैसला हो जाय ! मुद्दायला एक जाट था, जिसपर उस महाजन ने दावा कर रक्खा था ।

महाजन ने एक वढ़िया चिल्लेदार पगड़ी, जिसका मूल्य करीब पचास रुपया होगा, खरीदी और न्यायाधीश के घर जाकर रिश्वत के रूप में भेंट कर दी । उधर जाट भी समझदार था । उसने सोचा, हार-जीत का प्रश्न है । पूरी कोशिश करके किसी भी प्रकार विजय प्राप्त करनी चाहिए । कहीं ऐसा न हो कि महाजन हाकिम को कुछ खिला-पिला दे और अपने पक्ष में कर ले; क्योंकि वह वड़ा होशियार और अवसरवादी है । यह सोच कर उसने भी एक बढ़िया, करीब १५ सेर दूध देने वाली भैंस खरीदी और ले

जाकर हाकिम के घर बांध दी। हाकिम ने पूछा—यह क्यों लाये तब उसने कहा—हुजूर बाल-बच्चे वाले हैं और दूध-दही की तकलीफ़ पड़ती होगी। मैंने विचार किया—मेरे यहां न सही आपके यहां बंधी तो क्या हानि है ?

न्यायाधीश ने मन ही मन विचार किया—सेठ की पगड़ी ५० रुपये की है और भैंस पांच सौ की होगी। इससे प्रतिदिन मेरे सारे परिवार को दूध, दही, घी और रबड़ी आदि चीज़ें मिल सकेंगी। कहते हैं—जिसके घर में धीना (धेनु) होता है, उस घर में सब कुछ होता है और वह घर परमानन्दी होता है।

हाँ, तो भैंस पाकर न्यायाधीश के विचारों का पलड़ा उधर से इधर झुक गया। दूसरे दिन पेशी हुई। महाजन ने द्वयर्थक भाषा का प्रयोग करते हुए कहा—हुज़ूर ! पगड़ी की लाज रखियेगा !

न्यायाधीश क्या कम चतुर थे ? उन्होंने कहा—पगड़ी-पगड़ी क्या करता है ! पगड़ी को तो भैंस निगल गई !

सेठ समझ गया कि मामला मेरे हक में होने वाला नहीं।

सज्जनो ! यह आजकल के संसार की स्थिति है। संसार तृष्णा की आग में जल रहा है। मगर आग से कभी शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए मैं कहता हूं कि जैसे संसार का हिसाब-किताब संभालते हो, उसी प्रकार धर्म-खाते की भी जांच करो।

मैं कह रहा था कि जो धर्म के नाम पर हिंसा करता है, उसे बहुत हानि उठानी पड़ती है। महापुरुषों ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि सब जीव जीना चाहते हैं और सब को एक-न एक-दिन अवश्य मरना है। ऊंचे से ऊंचे देवलोक में उत्पन्न होने वाले देव भी मृत्यु के वशीभूत होते हैं और सातवें नरक के नारकी

भी मरण की शरण होते हैं। फूलों की मृदुल सेज पर पौढ़ने वाले भी चिता पर सोते हैं और धरती पर सोने वाले भी काल के गाल में समाते हैं।

हाँ, तो वह महात्मा जी फूलों की शय्या पर सो गये। कुछ ही देर हुई थी कि राजा वहाँ आ पहुंचा। उसने देखा—कोई मस्ताना पड़ा है और मस्त होकर खुर्राटे ले रहा है। राजा को इस फ़कीर की धृष्टता देखकर गुस्सा आ गया। उसने नौकर को दो-चार चाबुक फटकार देने की आज्ञा दी। राजा कहने लगा—इस भिखमंगे की इतनी बड़ी धृष्टता कि हमारी शय्या पर आकर इतनी लापरवाही से सो रहा है!

राजा का आदेश था कि बाबा जी की काया पर कोड़े पड़ने लगे। वह तिलमिला कर उठे और राजा को सामने खड़ा देखकर हँस पड़े और फिर रोने लगे।

बाबा जी की यह अद्भुत चेष्टा देखकर राजा चकित रह गया। उसने सोचा, कोड़ों की मार पड़ने पर हँसना अनोखी-सी बात है। इसे रोना चाहिए था, परन्तु यह हँसा क्यों? और फिर मुझे देख कर रोया क्यों? आखिर राजा ने बाबा जी से हँसने और फिर रोने का कारण पूछा। बाबा जी ने कहा—कोड़े लगने से दर्द हुआ, इस कारण रोया, किन्तु हँसा इसलिए कि थोड़े में ही काम निबट गया। सिर्फ दो घड़ी इस शय्या पर सोने के कारण मुझे कोड़ों की मार खानी पड़ी, तो उनकी क्या दशा होगी जो सदा इस पर सोते हैं!

तो स्मरण रखना, यह फूलों की शय्या है और फूलों को तोड़-मरोड़ कर तुम जीवों के प्राण ले रहे हो। इसका बदला देना ही पड़ेगा। फल भोगे बिना छुटकारा न होगा। राई-राई का बदला

चुकाना पड़ेगा। वहां पोपा बाई का राज्य नहीं है। अतएव यदि तुम अपना भला चाहते हो तो विवेक का उपयोग करके सत्य मोक्षमार्ग को पहचानो, उसी पर अटल श्रद्धा करो और उसी पर चलो। यही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र है।

हे साधक ! यदि तू मोक्ष की आराधना करना चाहता है तो तुझे हिंसा का पूर्णरूपेण त्याग करना पड़गा और समस्त आरंभ-समारंभ से बचना होगा। याद रखना होगा कि हिंसा सदैव हिंसा है, पाप है, जन्म-मरण और नरक-निगोद का कारण है, चाहे उसका धर्म समझ कर आचरण किया जाय अथवा अन्य कुछ समझ कर। जब हिंसा को हिंसा मानकर सेवन किया जाता है, तब जीव चरित्र से ही च्युत होता है, किन्तु जब उसे धर्म समझ कर आचरण किया जाता है तो सम्यग्दर्शन भी नष्ट हो जाता है। अतएव हिंसा को पाप समझ कर अपने समकित की रक्षा करो और त्याग कर चरित्रशील बनो। यह मुक्ति का मार्ग है और अक्षय कल्याण का पथ है। सज्जनो ! अपने जीवन को ऊंचा उठाओ, पवित्र बनाओ और प्रभु का स्मरण करो, गुणगान करो। जो ऐसा करते हैं, वे संसार-सागर से पार हो जाते हैं।

ब्यावर }
१९-८-५६

———

: २ :

रोना त्यागो

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सज्जनो,

यह जीवात्मा अपने सहज स्वाभाविक शुद्ध रूप से सिद्ध के समान होने पर भी अनादिकाल से भव रूपी विकट अटवी में भटकता फिरता है। भटकते-भटकते एक नहीं, हजारों और लाखों भी नहीं, किन्तु अनन्त-अनन्त जन्म गुजर गये हैं। इस जीव ने उन अतीत अनन्त जन्मों में अनन्त-अनन्त यातनाएं भोगी हैं, दुस्सह शारीरिक और मानसिक व्यथाएं सहन की हैं। यह भांति-भांति की आकुलताओं, व्याकुलताओं भाजन बना है। बेचैन हुआ, घबराया और पीड़ित हुआ है। सौ-सौ बार इसने दुःखों से छुटकारा पाने की कामना

को। प्रत्येक समय और प्रत्येक जीवन में इस जीव का यही एक-मात्र ध्येय रहा कि मैं किस प्रकार सांसारिक व्यथाओं से अपना पिंड छुड़ाऊं। व्यथाओं से छुटकारा पाने के उद्देश्य से उचित और अनुचित कार्य करने में कुछ भी कसर न रक्खी। इस जीव की सदैव यही भावना रही कि किसी भी उपाय से मुझे राहत मिले, आराम मिले।

दुःखों से छुटकारा पाने और सुख प्राप्त करने के लिए संसारी जीव ने क्या नहीं किया ? उसने अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण किया, अपेय पदार्थों का पान किया, निन्दनीय और अनुपसेव्य वस्तुओं का सेवन किया। अंडे चूसे, मांस खाया, मदिरा का पान किया, अपने दुःख की निवृत्ति के लिए दूसरों के प्राण लूटे, उन्हें सताया, घायल किया और उनके शरीर का नाश किया। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के दुःख को दुःख नहीं समझा और सुखों को सुख नहीं समझा। इस प्रकार संसार में कोई ऐसा पाप नहीं, जिसका इसने सेवन न किया हो और इस सब प्रयास के पीछे उसकी एक ही धारणा रही कि किसी न किसी प्रकार मुझे सुख की प्राप्ति हो।

किन्तु हा हन्त ! इस जीव का यह प्रयास सफल न हो सका। आज तक यह कष्टों और पीड़ाओं से छुटकारा नहीं पा सका। यही नहीं, इसके प्रयासों का फल विपरीत ही हुआ। इसने दूसरों के प्राणों का संहार किया, उनके जीवन की आबाद बस्ती को उजाड़ दिया, बर्बाद कर दिया और अपने आपको आबाद करना चाहा, दूसरों को उखाड़ कर अपने को बसाना चाहा और जैसे-जैसे इसने मूढ़ता के कारण, अज्ञान के कारण या विवेकशून्यता के कारण अपनी पीड़ा की निवृत्ति के उपाय किये, तैसे-तैसे दुःखों की सृष्टि घटने के बदले बढ़ती ही चली गई। इसका कारण यही कि मूढ़ता

के कारण इस जीव के प्रयास उलटी दिशा में चले; इसने विपरीत मार्ग पर कदम बढ़ाया और नासमझी से ऐसे कार्य किये जो दुःखों की वृद्धि के कारण थे। आखिर कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, फिर भावना कैसी भी क्यों न हो।

सज्जनो ! यदि दूसरों को दुःख देने से और उनके प्राण लेने से सुख की प्राप्ति संभव होती तो फिर दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए किसी को धर्म-साधना करने की आवश्यकता ही क्या थी ? दूसरों को दुःख देना अपने लिए दुःख के बीज बोना है। जैसे बबूल के वृक्ष से मधुर आम्रफल की प्राप्ति संभव नहीं है, उसी प्रकार पर को पीड़ा पहुंचाने से सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। इस प्रकार इस जीव ने काम तो सुख प्राप्त करने के लिए किये, किन्तु दूसरों को दुःख देकर अपने दुःख बढ़ा लिये। इसने शारीरिक दुःख मिटाने के लिए अखाद्य पदार्थ खाये, अपेय पीये और शराब पी, कि दुःख मिट जायंगे, निमोनिया मिट जायगा; कॉडलीवर ऑयल अर्थात् मच्छी का तेल पिया कि ताकत आ जायगी, पंचेन्द्रिय जीवों का घात किया, अपने स्वार्थ-पोषण के लिए, अपने आराम के लिए और अपने जीवन को कायम रखने के लिए दूसरों के जीवन को जीवन नहीं समझा, पराये प्राणों को प्राण नहीं समझा।

आपने सुना होगा और 'जैनप्रकाश' में पढ़ा होगा कि भारत-सरकार ने लाखों बंदर अमेरिका पहुंचाये हैं। वहां उन निरपराध मूक प्राणियों को इंजेक्शन लगाये जाते हैं, जिससे वे तड़फ-तड़फ कर मर जाते हैं और फिर उनके शरीर में से ऐसे-ऐसे अंश लिये जाते हैं, जिनसे तरह-तरह की ओषधियां तथा इंजेक्शन निर्माण करने के लिए परीक्षण किये जाते हैं।

सज्जनो ! जरा सोचो तो सही कि आज का मनुष्य कितना निर्दय और क्रूर हो गया है कि अपने सुख के लिए दूसरे प्राणियों को गाजर-मूली की तरह काटते भी संकोच नहीं करता। ऐसे-ऐसे नृशंसतापूर्ण और निर्दय कृत्य करके भी मनुष्य आज सुख की तलाश में है और शान्ति की गवेषणा में अभिरुचि रखता है तथा आराम पाने का इच्छुक है।

ओ सुखाभिलाषी ! इन कारनामों से तुझे सुख प्राप्त नहीं होगा, बल्कि दुःख की दुनिया ही प्राप्त होगी।

ओ पापी ! अपने मंगलमय भविष्य की कामना से प्रेरित हो कर, डाक्टरी की परीक्षा पास करने के लिए तूने कितने ही खरगोशों, मेंढकों, पक्षियों, सांपों तथा अन्य प्राणियों को तड़फा-तड़फा कर काटा, छेदा, भेदा और मार डाला। इतना ही नहीं, अपने स्वार्थ के लिए, अपने मनोरंजन के लिए, क्षण भर के आनन्द के लिए अजगरों, शेरों, हिरनों, ह्वेल मछलियों तथा अन्य मछलियों को मारा, उनका शिकार किया, खाया या चर्बी निकालने के काम में तथा खालों के काम में लिया। उनकी चर्बी निकालकर तथा मांस को डिब्बों में भर-भर कर देश-विदेश में भेजा।

सज्जनो ! अपने सुख के लिए मनुष्य ने कोई भी पाप करना शेष नहीं रक्खा। भयानक से भयानक और घोर से घोर पाप करने में मनुष्य नहीं हिचकता।

किन्तु यह सब मूढ़ दशा है। यह सब सुख प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयास वृथा हैं, विपरीत हैं। इनसे सुख के बदले दुःखों की परम्परा ही बढ़ती है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि अखाद्य के खाने से, अपेय के पीने से तथा इनका

व्यापार करने से तेरा दुःख दूर होने वाला नहीं है। अगर साता-वेदनीय कर्म का उदय होगा तो राख की एक चुटकी से भी तुझे आराम हो जायगा। अतएव विवेकवान् आत्माएं, जिन्हें हिंसा-अहिंसा, धर्म-अधर्म तथा कृत्य-अकृत्य का बोध प्राप्त है, इन पाप कर्मों से अलग रहती हैं। वे पाप का सेवन नहीं करतीं और न पापजनक पदार्थों का व्यापार ही करती हैं। जो लोग इन पापमय पदार्थों का सेवन नहीं करते, उन्हें क्या आरोग्य-लाभ नहीं होता ? वे सब क्या मर ही जाते हैं ? नहीं। बल्कि अनुभव तो यह बतलाता है कि वे उन पदार्थों का सेवन करने वाले पापियों से अधिक दीर्घजीवी और स्वस्थ होते हैं।

तो मैं कह रहा था कि मनुष्य सुख की तलाश में तो चला किन्तु रास्ता उसने उलटा पकड़ लिया। जाना तो चाहिए था उसे किसी सरोवर के पास, जलाशय की ओर, जहां पीने को पानी मिलता, वृक्षों की ठंडी छाया मिलती और राहत मिलती, शान्ति मिलती; मगर मूढ़ जीव उस ओर नहीं गया। उसने रेगिस्तान का मार्ग पकड़ लिया। ऐसी स्थिति में आप समझ सकते हैं कि उसकी पिपासा, उसके शरीर का दाह और परिताप कम होगा या अधिक बढ़ेगा ? निःसन्देह उसकी वृद्धि होगी क्योंकि उसने रास्ता ही ऐसा पकड़ा है। उस रास्ते पर चलकर वह शान्ति नहीं पा सकता।

अतएव शास्त्रों में कहा है कि यदि प्राणी जीवहिंसा करता है अपने मान के लिए, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए और मानता है कि ऐसा करने से मेरी व्यथाओं का अन्त आ जायगा, विपत्तियां टल जायेंगी, मेरे दुःखों का शमन हो जायगा तो यह उसका एकदम मिथ्या विचार है। आज बहुत-से लोग अपनी संतान की खैर मनाने के लिए, परिवार और जाति की खैर मनाने के लिए

कल्पित देवी-देवताओं के सामने हजारों पशुओं की बलि चढ़ा देते हैं, पत्थर का कलेजा करके उन मूकों की गर्दनों पर तलवार चला देते हैं और खून के उस उफनते हुए नाले में से देवी पर छींटे देते हैं और अपनी खैर मनाते हैं। यही नहीं, दशहरे का दिन आता है तो मोटे-मोटे महिषों की बलि देते हैं। क्या यह सब धर्म है? क्या यही धर्मप्रधान भारत भूमि की संस्कृति है? यह मानवीय सभ्यता है? नहीं। इन दुष्कृत्यों से भारत की सभ्यता कलंकित होती है। धर्मसंस्कृति के लिए अगर कोई बड़े से बड़ा कलंक है तो यही है! इससे बढ़ कर कलंक दूसरा नहीं हो सकता। निरपराध जीवों का घात करना मनुष्यों के लिए घोर लज्जा की बात है।

गत वर्ष जोधपुर में मेरा चौमासा था। वहां मैंने सुना कि दरबार की ओर से किले पर एक पाड़ा खासतौर से दशहरे के लिए ही पाला जाता है और फिर उस बहुमूल्य पाड़े को शराब पिला कर देवी के सामने तलवार के घाट उतार दिया जाता है। बाद में उसका धड़ और सिर किले के बुर्ज से फेंक दिया जाता है, जिसे भंगी वगैरह ले जाते हैं। इस प्रकार के नृशंस कृत्य करके वे राजपूत, क्षत्रियपुत्र अपने क्षत्रियत्व का गौरव समझते हैं। कहां तो भारत की वह परम्परा, जिसके अनुसार क्षत से अर्थात् घाव से त्राण या रक्षण करने वाले को क्षत्रिय कहा जाता था और कहां इस प्रकार की कायरतापूर्ण हत्या करने में क्षत्रियत्व का गौरव समझना? मूक और साधनहीन पशु की हत्या करना कहां की बहादुरी है? ऐसा करने में क्या वीरता है? किन्तु खेद है कि आज ऐसे कामों में ही क्षत्रियत्व रह गया है। आज के क्षत्रिय तो 'क्षत्रिय' शब्द के व्याकरणसंगत अर्थ को ही भूल गये हैं।

सज्जनो ! विशेष खेद का विषय तो यह है कि उस दिन बहुत-से जैनी भी उस मूक प्राणी के वध को देखने जाते हैं। जब जल्लाद का रूप धारण करके, हाथ में नंगी तलवार लेकर वह क्षत्रिय पाड़े के सामने आता है, उस समय वह पाड़ा थर-थर कांपने लगता है और अपने प्यारे प्राणों की रक्षा के लिए छटपटाता है। मारने वाला उसे नरक का परमाधमी ही दिखाई देता है। उस समय उस भैंसे की मौत के दृश्य को देख कर उसकी आत्मा को टटोलने वाला और न्याय करने वाला कोई हो तो वही उसके दुःख को कह सकता है और उसकी हैरानी तथा परेशानी का अनुभव कर सकता है। वह यमराज के समान उस जल्लाद को देखता है और कितना भयभीत होता है ! मगर बेचारा लाचार है। जकड़ा हुआ है, बंधा हुआ है, विवश है ! किन्तु हृदयहीन तमाशबीन उसकी मौत देखने जाते हैं। कहावत है—'चिड़ियों की जान गई और गंवारों का तमाशा !'

अरे लोगो ! तुम तमाशा देखने जाते हो ! एक निर्दोष, असहाय वाचाहीन प्राणी के प्राण लेना तुम्हारे लिए तमाशा है ! यह अविवेक की पराकाष्ठा है। मनुष्य के अत्याचार की सीमा है !

सज्जनो ! ऐसी जगह जाने से परिणामधारा विपरीत दिशा में बहने लगती है। यही भावना होने लगती है कि कब तलवार का वार हो और कब हम सिर और धड़ को अलग-अलग हुआ देखें। सामने जैसा व्यापार होता है, अक्सर उसी के अनुरूप भावना बने बिना नहीं रहती।

नगरों में श्मशान में लकड़ियों की टाल होती है। गांवों में तो लोग अपने-अपने घर से लकड़ियां ले जाते हैं, किन्तु शहरों में ऐसा

नहीं होता। बड़े शहर में पता ही नहीं चलता कि कौन कब मर गया और फिर शहरी लोग कुछ खुदगर्ज भी होते हैं। उन्हें अपने पड़ोसी को भी संभालना दूभर होता है।

हां, तो शहर के बाहर श्मशान में जिसकी टाल है, जिसने मुर्दों को जलाने की लकड़ियां बेचने का धंधा अपनाया है, उस व्यक्ति की कैसी भावना हो सकती है, यह आप स्वयं सोच सकते हैं। इसके लिए न तो मुझसे पूछने की आवश्यकता है, न किन्हीं पंडितजी को बुलाने की आवश्यकता है और न शास्त्र के पन्ने पलटने की। जो चांदी, सोने या कपड़े की दुकान करता है, उसके यहां उसी के ग्राहकों का आना स्वाभाविक है। उसे अपने माल की अधिक से अधिक विक्री होने की भावना हो, यह स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यापारी राजा भरत तो हो ही नहीं सकता कि सामने के दृश्यों का और घटनाओं का उसकी मनोवृत्ति पर कुछ असर ही न पड़े और वह सर्वथा अलिप्त बना रहे।

मनुष्य की भावना उसके दैनिक कर्त्तव्य के अनुरूप बन जाती है और छद्मस्थ उस असर से वह प्रायः बच नहीं सकता। हमारा काम है धर्म की प्रवृत्ति करना, भूले-भटके लोगों को राह दिखलाना। तो यही हमारी दुकान है और हम दुकानदारों की यही भावना रहती है कि अधिक से अधिक ग्राहक हमारे पास आवें, शास्त्रों का श्रवण करें, हम से कुछ लेवें, जिससे उनका कुछ कल्याण हो। इस प्रकार हमारा व्यापार धर्म का है और वह धर्मात्मा ही कैसा, वह धर्म का अधिष्ठाता ही क्या, जिसके हृदय में धर्मवृद्धि की भावना न हो। तो मनुष्य जैसा-जैसा व्यापार करता है, जैसी-जैसी क्रियायें उस के सामने होती हैं, उसका जीवन भी तदनुरूप ही हो जाता है।

तो आप समझ सकते हैं कि श्मशान की टाल वाले की भावना कैसी होती होगी ? वह यही चाहता होगा कि अधिक से अधिक लोग मरें और अधिक से अधिक मेरी लकड़ियां बिकें। इस प्रकार की दुर्भावना होना महान् पाप है। अतएव भद्रशील श्रावकों को इस तरह का कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे पापमय भावना उत्पन्न हो और नीची गति में जाने की सामग्री जुटे।

सज्जनो ! सुनाने का मुझे कोई मर्ज नहीं है कि मुझे सुनाना ही पड़े। किन्तु सुनाने का मेरा उद्देश्य यही है कि आप कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझ सकें, अपने कर्त्तव्य को निश्चित कर सकें, उस पर दृढ़ रहने की भावना बना सकें, अकर्त्तव्य को तिलांजलि दे सकें, अपने जीवन को पवित्र बना सकें और आत्मा का कल्याण कर सकें।

कोई पथिक जब रास्ता पूछता है, तो उसका कर्त्तव्य यही हो जाता है कि मालूम होने पर वह गलत रास्ते को छोड़ दें और सही मार्ग पर चल पड़े। यदि किसी ने हितबुद्धि से रास्ता बतला दिया, जो साफ है और जहां प्यास लगने पर पानी पीने के लिए सरोवर मौजूद है, वर्षा से बचने के लिए मकान हैं और धूप से बचने के लिए छायादार वृक्षों की कतार खड़ी है, जहां चोरों-लुटेरों का भय भी नहीं है, तो वही रास्ता चलने योग्य है। फिर भी कोई दुराग्रही उसपर न चलकर गलत और कण्टकाकीर्ण रास्ते पर ही चलता है और अपनी वक्र चाल नहीं छोड़ता, बांह पकड़कर सीधे रास्ते पर चला देने पर भी गलत रास्ते पर ही चलता है; तो समझ लीजिये कि वह भाग्यहीन है और उसका भविष्य सुखमय नहीं, दुःखमय है। इसका कारण यही है कि उसकी मति खोटी है।

ब्यावर वालो और ब्यावर वाली बहिनो ! मैं एक बार नहीं अनेक बार दोहरा-दोहरा कर, गला फाड़-फाड़ कर कह रहा हूं कि आप हिंसामय धर्म मानने के गलत राह पर मत चलो। यह कंटकमय मार्ग है और इस मार्ग पर जाओगे तो तुम्हारे पैरों में कांटे चुभ जायेंगे और लुटेरे तुम्हारे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, रूप और धन को लूट लेंगे ! किन्तु बड़ा खेद है कि एक पथ-प्रदर्शक शुद्ध भावना से तुम्हें पथप्रदर्शित कर रहा है फिर भी तुम मोक्ष-मार्ग के पथिक कहला कर भी विपरीत मार्ग पर ही चल रहे हो। मुड़-मुड़ कर गलत ही राह पकड़ते हो । अगर आप की यही वृत्ति और प्रवृत्ति है तो पथ-प्रदर्शक का क्या दोष है ? यदि पथिक का भाग्य विपरीत है, उसके भाग्य में ठोकरें खाना है और माल लुटवाना है तो पथ-प्रदर्शक क्या करे ?

माताओ और भद्र पुरुषो ! मैं पुनः पुनः कह रहा हूं कि मिथ्यात्व का मार्ग तीक्ष्ण कण्टकों से आकीर्ण है। उस मार्ग में भयानक शूल बिछे हैं। वहां काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार वगैरह लुटेरे परम आत्मिक-धन लूटने को उद्यत खड़े हैं। ये लुटेरे बड़ी हिकमत से लूटते हैं।

सज्जनो ! मिथ्यात्व का रास्ता खतरे से खाली नहीं है। जो इस पर चले वे अपना सर्वस्व गंवा बैठे। बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, चतुर, होशियार और विज्ञानी भी लुट गये। चार ज्ञान के धनी और पूर्वों के पाठी भी लुट गये। चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के धारक राहगीरों पर मिथ्यात्व रूपी लुटेरों के नेता ने आक्रमण किया। अपना जोर दिखलाया और फिर क्षण भर में ही उनके परम-धन को लूट कर बर्बाद कर दिया। आखिर उन पथिकों को मर कर नरक और निगोद में शरण ग्रहण करनी पड़ी।

ऐसी उच्च कला पर पहुंचे हुए पथिक क्यों नरक में नीचे चले गये ? कारण यही कि ज्ञानादि की जो सम्पत्ति उन्हें ऊंचे ले जाने वाली थी, वे उसे लुटा चुके। जब बड़े-बड़े होशियार भी लुट जाते हैं तो साधारण जनों का तो पूछना ही क्या है ?

किसी समय चार चोर चोरी करने, पराया माल लूटने को, एकमति धारण करके चले। उन्होंने सोचा—भैया, आजकल धंधा तो है नहीं, अतएव जीवन-निर्वाह करने के लिए कहीं से माल ही लूट लायें। आखिर जीवनयापन करना ही है और उसके लिए धन चाहिए और जब प्रामाणिकता से धन नहीं मिलता तो लूटपाट ही सही ! ऐसा विचार करके वे चल पड़े।

चारों चोर नगर में प्रविष्ट हुए। सबने लम्बे-लम्बे रंगीन कुर्त्ते पहन लिये। हाथ में मोटे-मोटे मणियों की मालाएं ले लीं। तिलक-छापा लगा लिया। मस्तक पर जटा धारण कर ली। ऋषियों-मुनियों की सी वेष-भूषा और चाल-ढाल बना ली। तत्पश्चात् एक तो दरवाजे के बाहर बैठ गया, दूसरा कुछ दूरी पर दरवाजे के भीतर रास्ते पर बैठा। इसी प्रकार तीसरा और चौथा भी कुछ-कुछ फासले पर जम गया। वे बगुला-भक्ति करने लगे। शहर में स्त्री-पुरुषों का आवागमन चालू हो गया।

प्रातःकाल का समय था। जो भी कोई उधर होकर निकलता, पहला उसे सुनाकर कहता—'दामोदरं दामोदरं।' जब वह राहगीर कुछ आगे बढ़ता और दूसरे के पास पहुंचता तो वह कहता—'हरे हरे।'

जाने वाले सोचते—अहो ! अहोभाग्य हैं हमारे कि आज प्रभात काल में ही परमात्मभक्त महात्माओं के दर्शन हुए।

उन्होंने भक्तों की ऐसी मुद्रा बना ली थी, मानो परमात्मा के साक्षात् चेले हों या प्राइवेट सेक्रेटरी ही हों।

जब राहगीर और आगे बढ़ते और तीसरे महात्मा के पास पहुंचते तो वह जप करता सुनाई देता—'ॐ वृन्दावनं, वृन्दावनम्।'

यह सुनकर भक्तहृदय खिल उठता। उसकी आत्मा में बड़ी प्रसन्नता होती। और ज्यों ही वह दरवाजे के बाहर पहुंचता तो वहां चौथा महात्मा 'विष्णुधाम, विष्णुधाम' की ध्वनि सुनाता। राहगीर भक्त भक्ति से गद्गद होकर महात्मा के चरणों पर गिर पड़ता।

सज्जनो! जो चोर 'दामोदरं-दामोदरं' बोल रहा था, वह अपने काम में बड़ा होशियार था। वह दूर तक दृष्टि डाल कर पहचान लेता था कि आने वाले के पास दाम-माल है या नहीं है। जिसके पास दाम होता, उसे देखकर वह 'दामोदरं' की रट लगाता और अपने दूसरे साथी को सूचना दे देता था कि 'हरे-हरे' अर्थात् हरण कर लो, हरण कर लो। तीसरा चौथे को सूचित करता कि इसे यहां मत लूटो, किन्तु वन में ले जाकर लूटना। इसे निर्जन स्थान में जाने दो, जहां लूटते समय कोई देख न सके। चौथा जब तीसरे से सब सूचना पा लेता तो 'विष्णुधाम-विष्णुधाम' कह कर अपने चरणों में पड़े हुए भक्त को नशीली चीज सुंघा कर बेहोश कर देता और बड़ी होशियारी से निर्जन स्थान में ले जा कर और उसका धन-माल छीनकर वहीं उसका खात्मा कर देता। तब पुनः आकर अपने आसन पर जम जाता।

सज्जनो! संसार में मिथ्यात्व का सेवन करने वाले लुटेरों जाल-सा बिछा है। वे भक्त के वेष में ठग हैं। त्यागी के रूप में डाकू और लुटेरे हैं। दुनिया के भोले लोगों को पता नहीं कि

हमें लूटने के लिए ही ये भक्त का रूप बना कर बैठे हैं। अतएव वे उनके चंगुल में फंस जाते हैं, अपना माल लुटा देते हैं और प्राण भी गंवा बैठते हैं। अतएव आप लोगों को इनसे होशियार रहने की निहायत जरूरत है। कहीं ऐसा न हो कि इनके बहकावे में, इनकी सजावट और दिखावट के चक्कर में फंस कर धोखा खा जाओ और अपने शुद्ध श्रद्धान, ज्ञान एवं चारित्र्य रूपी अनमोल सम्पत्ति को गंवा बैठो।

तो ज्ञानी पुरुष बतलाते हैं कि यह जीव सुख की खोज में चला तो उसे साफ-सुथरा, विघ्नविहीन रास्ता लेना था, जिससे वह सुख के अक्षय भण्डार को प्राप्त कर सकता, किन्तु उसने रास्ता मिथ्यात्व का ले लिया। परिणाम यह हुआ कि अपने लक्ष्य पर पहुंचना तो दूर रहा, उल्टे जन्म-जन्मान्तर में दुखी होना पड़ा।

मैं आपको कहा रहा था कि मनुष्य जैसा व्यापार करता है, जैसी तिजारत करता है, उसके भाव भी वैसे ही हो जाते हैं। अतएव शास्त्रकारों ने श्रावकों के लिए व्यापार का एकदम निषेध तो नहीं किया, परन्तु उसकी मर्यादाएं बांध दी हैं और घोर पापजनक व्यापारों का प्रतिषेध कर दिया है। श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए जिससे उसकी आत्मा कलुषित हो और महापाप होता हो। उदाहरणार्थ—शहरों में अर्थी बेचने वाला व्यापारी सोचता है—बड़ी-बड़ी अर्थियां तो बिक गई, परन्तु यह छोटी-छोटी कब बिकेंगी? अर्थात् वह छोटे-छोटे मरने वालों की कामना एवं प्रतीक्षा करता रहता है।

तो मैं कह रहा था कि जहां आने-जाने से और जिसके सम्पर्क एवं संसर्ग से पापमय बुद्धि उत्पन्न होती हो, भावना में मलीनता आती हो, श्रावक को वहां नहीं जाना चाहिए।

प्रतिवर्ष रामलीला का मेला होता है। उस अवसर पर एक रावण बनाया जाता है और उसके भीतर बारूद के गोले रख दिये जाते हैं। बाजारों में प्रदर्शन करते हुए, नाना प्रकार के खेल-तमाशे करते हुए, गाजे-बाजे के साथ ले जाते हुए लोग उस रावण को मैदान में रख देते हैं। तब उस रावण को जलाने के लिए ज्योतिषी जी मुहूर्त निकालते हैं। पता नहीं, पण्डित जी की कौन-सी लाल किताब में लिखा है कि अमुक समय पर उस बनावटी रावण को जलाया जाय ! और जब नकली बने हुए राम-लक्ष्मण आते हैं, तो उनकी आरती की जाती है। फिर वे नियत मुहूर्त्त में उस रावण पर तीर चला कर उसे मार देते हैं। रावण को उसी समय आग लगा दी जाती है। उसमें से जो लपटें निकलती हैं, वहां उपस्थित बहुसंख्यक लोग उन लपटों को देख कर साल भर की खुशाली का अनुमान लगाते हैं। दर्शक लोग रावण का मरना और जलना देख कर हर्ष से नाच उठते हैं और सोचते हैं—कब यह जले और कब हम घर जावें।

सज्जनो ! इस प्रकार जो लोग समुदाय के रूप में मिलकर एक-सी भावना करते हैं, वे जीव सामुदायिक कर्म का बंध करते हैं और जब वे इकट्ठे होकर कर्म बांधते हैं तो इकट्ठे ही भोगते भी हैं। भूकम्प आ जाना, जहाज़ डूब जाना, हवाई जहाज़ का गिर पड़ना, ज्वालामुखी का फूट पड़ना, परमाणु बम का विस्फोट हो जाना, शहर या ग्राम में आग लग जाना, नदी में बाढ़ आ जाना और इन दुर्घटनाओं के फलस्वरूप हजारों-लाखों मनुष्यों, स्त्रियों, बच्चों और पशुओं आदि का मर जाना; डूब कर, जलकर या दब कर चल बसना, यह सब सामुदायिक कर्म बांधने का फल है।

अभी-अभी देश का जो बंटवारा हुआ, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में देश दो टुकड़ों में बांट दिया गया और उस अवसर पर जो सीधी कार्रवाई हुई और उसमें एक साथ अनगिनत स्त्री, पुरुष और बच्चे मार डाले गये, सरेआम कत्ल कर दिये गये और लाखों की संख्या में हत्याएं हुईं। यह भी समुदायी कर्म बांधने का फल समझना चाहिए। उस समय मनुष्य मनुष्य का प्राणलेवा शत्रु बन गया। क्या इधर और क्या उधर दोनों ओर जालिमों ने खून का बदला खून से लेना शुरू किया। जहां कहीं चौड़ी-चौड़ी नदियां आतीं, वहीं आती-जाती रेलें खड़ी करके स्त्रियों, पुरुषों और बालकों को तलवार आदि से काट-काट कर नदियों में फेंक दिया। मनुष्यों के रक्त से नदियों का जल भी लाल-लाल हो गया। कत्ल होते हुए बहुत-से मैंने अपनी आंखों से देखे हैं, अगर किसी ने उन आततायियों को समझाने का प्रयत्न किया तो उनका भी तिया-पांचा साथ ही हो गया। उस समय लोगों में ऐसी बर्बरता आ गई थी। दोनों तरफ बदला लेने के लिए खून खौल रहा था।

सज्जनो ! इस प्रकार की दुर्घटनाएं, सामूहिक हत्याएं, एक साथ पाप में खुशी मान कर कर्मबंध करने से होती हैं। इस प्रकार बांधे हुए कर्मों का फल एक साथ भोगना पड़ता है।

मनुष्य किसी अवसर पर कितना विकराल हो जाता है और कभी-कभी कितना सहिष्णु भी हो जाता है। सच तो यह है कि मनुष्य जैसा धर्मी और मनुष्य जैसा पापी इस पृथ्वी की पीठ पर दूसरा कोई प्राणी नहीं है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि मनुष्य विश्व का सब से अधिक शक्तिशाली प्राणी है। वह अपनी शक्ति का पूरी तरह सदुपयोग करता है तो सबसे बढ़ कर धर्मी

होता है और जब दुरुपयोग करता है तो पाप के क्षेत्र में भी सबसे आगे आ जाता है।

उस समय की एक घटना अब तक भी मेरे मन पर छाई हुई है। बहुत-से मुसलमान पूर्वी पंजाब से पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) जा रहे थे। वे सब कुछ माल-असबाब छोड़-छोड़ कर प्राण बचाकर भयाकुल होकर जा रहे थे। उनकी एकमात्र यही भावना थी कि किसी प्रकार हिन्दुस्तान की हद से जीते जी निकल जायें और अपने जीवन को सुरक्षित कर लें। एक रात वे लोग नदी के किनारे सो गये। भाग्य की बात ही समझिये कि उसी रात, इतनी वर्षा हुई कि नदी में बाढ़ आ गई और प्राण लेकर भागने वाले हजारों मनुष्य सोते के सोते रह गये और बह गये।

कोई प्रश्न कर सकता है कि यह घटना क्यों घटित हुई? क्यों, कैसे वे सब एक साथ मर गये? इसका सीधा और संक्षिप्त सा उत्तर है कि वे समुदायी कर्म के उदय से मरे। इस प्रकार की आपत्तियों और मुसीबतों से बचने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, विवेक की अपेक्षा है।

सज्जनो! ऐसे-ऐसे कारणों से यह जीव कर्म का बंध कर लेता है और फिर आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करता हुआ मरता है तो नरक में जाता है। इसलिए अपनी मनोवृत्ति को, चित्त के व्यापारों को, क्षण-क्षण में होने वाली मानसिक परिणति को बड़ी सावधानी के साथ संभालने की आवश्यकता है। हमारा जीवन पूर्णरूप से सुनियंत्रित होना चाहिए। मगर यह सब बातें सुनावें तो किसको सुनावें? जब कुंएं में ही भंग पड़ गई हो तो छानें भी कैसे? यदि लोटे में पड़ी हो तो उसे छान भी लें और उसका

कुछ नशे का अंश कम भी हो जाय। आज संसार की यही दशा हो रही है।

अब मैं आपका ध्यान एक कुरूढ़ि की ओर आकर्षित करना चाहता हूं, जो समाज में प्रचलित है। कुंएं में पड़ी हुई भंग को जो भी पी लेता है, वही बेभान हो जाता है। आपके यहां यह रिवाज प्रचलित है कि किसी के घर जब मृत्यु हो जाती है तो दूसरे संबंधी, स्नेही तथा अन्य लोग मोरवाण (मुकाण) के लिए आते हैं। मरने वाला तो मर जाता है, चला जाता है; किन्तु किसी के घर में अकेली औरत बचती है, किसी के घर बच्चे ही शेष रह जाते हैं और किसी के पीछे बड़ा परिवार भी होता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संसार में मृत्यु अनिवार्य है और जीवन की चरम परिणति मृत्यु ही है। प्रत्येक जन्म लेने वाले को एक-न-एक दिन मरण का शिकार होना पड़ता है। अतएव मृत्यु के समय मरने वाले को और उसके संबंधी जनों को मृत्यु एक सहज व्यापार है, ऐसा समझ कर ही ग्रहण करना चाहिए। खेद, शोक या विलाप नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से कुछ हासिल भी नहीं होता। हाँ, हानि अवश्य होती है। आर्त्तध्यान करने से अत्यन्त अशुभ कर्मों का बंध होता है और उनका फल भविष्य में अतिशय कटुक होता है। मैं जानता हूं कि मोह पर विजय प्राप्त करना प्रत्येक प्राणी के लिए सरल नहीं है, तथापि उसे जीतने का प्रयत्न करना ही चाहिए। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने से मोह और शोक को जीता जा सकता है।

यह समझा जा सकता है कि जिस बहिन का पति उसे छोड़ कर परलोक चला गया है, उसका सहारा टूट गया, उसका सर्वस्व लुट गया और उसके मानो समग्र सुख समाप्त हो गये हैं। अतएव

वह अपना रुदन नहीं रोक सकती और चाह करके भी आर्त्तध्यान से नहीं बच पाती। ऐसी स्थिति में उसके रिश्तेदारों और संबंधियों का यह कर्त्तव्य है कि वे आकर उसे सान्त्वना दें, संतोष दें और विश्वास दिलाएं कि पति की मृत्यु के कारण उसे जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित न होगी और वे उसके सुख-दुःख की चिन्ता रक्खेंगे। वे उसे समझावें कि गई हुई वस्तु वापस आने की नहीं। लाख-लाख चेष्टा करने पर भी और आँसुओं की धारा बहा देने पर भी परलोक गया प्राणी लौट नहीं सकता। ऐसी स्थिति में तुम्हारा यही कर्त्तव्य है कि तुम धैर्य धारण करो। जी कड़ा करो और वियोग की पीड़ा को हिम्मत के साथ सहो। अपने छोटे-छोटे बच्चों की ओर ध्यान दो और इनका पालन-पोषण मन लगाकर करो।

इस प्रकार उसे सान्त्वना देकर, हिम्मत बंधा कर और उसके निर्वाह की समुचित व्यवस्था करके लोग चले जाते थे। यही मोरवाण का महत्त्व था। सामाजिक दृष्टि से इसकी बड़ी उपयोगिता और आवश्यकता थी।

किन्तु आज मोरवाण का असली अर्थ छोड़ दिया गया है और उसका विकृत रूप ग्रहण कर लिया गया है। लोग जब घर से मोरवाण के लिए रवाना हुए तो रोने का काम नहीं, स्टेशन पर उतरे तो देख कर कोई नहीं कह सकता कि ये मोरवाण के लिए आये हैं। बाजार में होकर गुजरे तो रोने का काम नहीं, किन्तु ज्यों ही मृतक के घर के समीप पहुंचे कि चिल्ला-चिल्ला कर रोना आरंभ कर देते हैं, जैसे शृगाल जाड़े के दिनों में झाड़ियों के बेर खा-खा कर 'हू-हू-हू' करते हैं। यह सच्चा रोना नहीं

है और इसमें कोई तथ्य भी नहीं है। यह दिखावा है, ढोंग है, कपट है और लकीर का फकीर बन कर एक कुरूढ़ि का पोषण करना है।

औरतें जब रोने को जाती हैं तो दूर से ही अलार्म की घंटी बजा देती हैं कि हम आ गईं। वह बेचारी दुखियारी अकेली औरत उस समय रोटी बना रही है तो घंटी सुनते ही, रोटी तवे पर सिकती हुई छोड़कर आती है और मोर्चा संभाल लेती है। अगर वह न आवे तो मामला दूसरा ही हो जाता है। वही स्त्रियां आपस में बातें करने लगती हैं कि—अरी ! मैं तो गई पण वा रोई कोनी !

और फिर यह सिलसिला तो चालू ही रहता है। एक जत्था गया और दूसरा आया। दूसरा गया या न गया कि धावा बोलता हुआ तीसरा तैयार है। उस बेचारी को एक तो मानसिक दुःख और ऊपर से यह मोरवाण वाली न खाने देती हैं, न पीने देती हैं और न सोने देती हैं। नाम तो है मोरवाण का, परन्तु उसके शोक और दुःख को उलटा बढ़ावा दिया जाता है। आवश्यकता होती है कि कलेजे में लगे घाव को भरा जाय, परन्तु उसे भरने के बदले और अधिक गहरा किया जाता है और शोक की कृत्रिम ढंग से उदीरणा की जाती है।

इस प्रकार रोने को बढ़ावा देना महापाप है। जो इसे बढ़ावा देती हैं, वे घोर पाप की भागिनी होती हैं। इस आर्त्तध्यान के फलस्वरूप उन्हें गहरी पीड़ाएं, व्यथाएं और मानसिक संताप सहन करना पड़ता है।

कहीं-कहीं तो विधवा बेचारी साल भर तक कोने में बैठी-बैठी सड़ती रहती है। समाज का यह रिवाज कितना हिंसापूर्ण

है ? इस रिवाज का शीघ्र से शीघ्र परित्याग कर देना ही उचित है। यह खोटा रिवाज कोई विधाता का विधान नहीं है कि बदला न जा सके। यह भी नहीं है कि इसे बदलने से आप अनन्त संसारी बन जायेंगे ! बल्कि इसका त्याग करने से धार्मिक लाभ ही होगा क्योंकि आर्त्तध्यान करने और कराने से पापकर्म का ही बंध होता है।

पंजाब में भी इस प्रकार की कुरीतियां प्रचलित थीं। वहां १३–१४ दिनों तक रोना-धोना चलता था। यह भी बुरा था, क्योंकि आर्त्तध्यान तो थोड़ा-सा भी गति को बिगाड़ देता है। जहर थोड़ा हो तो क्या मनुष्य के प्राण नहीं ले लेता या हानि नहीं पहुंचाता ? अतएव वहां मैंने उपदेश दिया और समझाया कि रोना पाप है, अतएव अगर सर्वथा नहीं त्यागा जा सकता तो भी तीन दिन से अधिक दिनों तक रोने की प्रथा नहीं रखनी चाहिए और साथ ही बारह बजे से पहले नहीं रोना चाहिए, जिससे घर वाले आराम और शान्ति से भोजन तो कर लें। चाहे कैसी भी दुःखप्रद मृत्यु क्यों न हो जाय, इस नियम का पालन करना आवश्यक होना चाहिए। भला यह क्या बात है कि न तो समय देखा और न असमय और तप्पड़ बिछाकर रोने बैठ गये ! इससे तो स्वर्गीय घर भी नरक बन जाता है। जहां रोना-पीटना और छाती कूटना नहीं, वही स्वर्गीय घर है। जहां रोना और पीटना है, वहां किसी को भी शान्ति नहीं। माता को रोते देख कर बच्चों को भी रोना आ ही जाता है। ऐसी अवस्था में दूसरे लोग भी कैसे प्रसन्न रह सकते हैं ? वहां का समग्र वातावरण शोकमय, विषादपूर्ण और आकुलताजनक बन जाता है।

अरे मानव ! तूने अमृत में क्यों विष मिला दिया और परिवार के जीवन को क्यों क्षत-विक्षत कर दिया ? क्यों जीवन को अभिशाप बना डाला ? क्यों सबको आर्त्तध्यान की अग्नि में डाल दिया ? क्या यही तुम्हारी सामयिक पौषध अठाई वगैरह धर्मसाधना का फल है ?

समाज के जीवन में घर बनाकर घुसी हुई यह कुरूढ़ियां जब तक दूर न होंगी और जब तक विवेक को प्रधानता न दी जायगी और विवेक के उज्ज्वल प्रकाश में देख कर ही प्रत्येक वस्तु को ग्राह्य न समझा जायेगा, तब तक सामाजिक जीवन उन्नत नहीं बन सकता और न व्यक्तिगत जीवन ही सुखमय हो सकता है।

जब शक्ति की दवा लेते हो और भीतर बीमारी है तो टोटल नुकसान का ही निकलेगा।

सज्जनो ! आर्त्तध्यान बढ़ाना सम्यग्दृष्टि को शोभा नहीं देता। आप प्रतिदिन पढ़ते हैं :—

गई वस्तु सोचे नहीं, आगम-वांछा नाय।
वर्त्तमान वरतै सदा, सो ज्ञानी जग माय॥

इस दोहे को आप ऐसी तल्लीनता से बोलते हो और ऐसे मस्त होकर घूमते हो जैसे ताजिया निकालते समय मरसिए गाने में मुसलमान मस्त हो जाते हैं।

उपदेश-श्रवण की सार्थकता यही है कि उपादेय तत्त्व को जीवन में उतारा जाय।

भला जो वस्तु रक्षा करते-करते भी चली गई, संभालते-संभालते और बनाये रखने की कोशिश करते-करते भी, रक्षा करने के जो उपाय किये जा सकते थे, उन्हें करने पर भी न रही, तो

भैया ! रोने से क्या वह वापिस आ जायेगी ? वह चली गई फिर लौट कर वापिस आने वाली नहीं है ।

और, यह चिन्ता भी मत करो कि अब आगे क्या होगा ? केवलियों ने अपने ज्ञान में जो देखा है, उससे विपरीत कुछ भी होने वाला नहीं है । या यों समझो कि जिसके जैसे कर्मों का उदय होगा, उसे वैसा ही फल मिलेगा । उसमें तुम्हारे चिन्ता करने या न करने से कुछ भी हानि-लाभ नहीं होगा । अतः आगे-पीछे की फिक्र छोड़ो । मैं तो यही सलाह दूंगा कि तुम वर्तमान की फिक्र करो । वर्तमान को सुधारने से भविष्य तो आप ही सुधर जायेगा ।

ओ पथिक ! ओ मुसाफिर ! जो रास्ता तूने पार कर लिया, तय कर लिया, वह तो पीछे रह गया, उससे तेरा संबंध विच्छिन्न हो गया । उसके संबंध में सोचने-विचारने से क्या होगा ? और जो मार्ग दूर है, तेरे नज़दीक नहीं है; उसकी ओर आंखें फाड़-फाड़ कर दूर तक देखेगा तो ठोकर लग जाएगी । इसलिए तू जहां चल रहा है, वहीं देख, जिससे ठोकर खाने से बच सके । ठोकर से बच जायेगा तो दूर का मार्ग, आगे का रास्ता तय करना कठिन न होगा । वह शीघ्र ही तेरे पास आ जायेगा । अगर तुम्हारा यह लोक अच्छा है तो परलोक भी अच्छा होगा और यदि यह लोक बिगड़ा है तो परलोक भी बिगड़े बिना न रहेगा ।

बन्धुओ ! मैं आपको कहने जा रहा था कि इस प्रकार साल-साल भर रोना और दूसरों को रुलाना दोनों के लिए कर्मबंध का कारण है । यह प्रथा द्रव्य से भी घातक है और भाव से भी हानिकारक है । कभी-कभी रोते-रोते बहिनें इतनी घबरा जाती हैं और उनके शरीर में इतनी गर्मी पैदा हो जाती है कि उनके

दूध में भी ज़हर पैदा हो जाता है। उस अवस्था में वे अगर बच्चे को दूध पिला दें तो बच्चे का प्राणान्त तक हो सकता है।

मृतक के पीछे रिवाज के तौर पर रोना अतिशय निन्दनीय कुरूढ़ि है और घोर हिंसा का कारण है।

एक बड़ी बुराई इस विषय में यह है कि अगर कोई विवेकशीला, धर्मज्ञा बाई हाय-हाय करके बनावटी रोना नहीं रोती तो उसकी प्रशंसा करने के बदले दूसरी स्त्रियां उसकी निन्दा करने लगती हैं। तरह-तरह की बातें करती हैं। कोई कहती है—अरी, उसे तो रोना-पीटना भी नहीं आता ! कोई कहती है—उसे अमुक के मरने का दुःख नहीं है ! किन्तु बहिनो ! तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए। हो सके तो उस बाई की दृढ़ता, धीरता और सहनशीलता की प्रशंसा करो। आर्त्तध्यान न करने की उसकी मनोवृत्ति की सराहना करो और उससे तुम अपने लिए सबक सीखो। समझो कि रोने से कर्म का और उसमें भी असातावेदनीय कर्म का बंध होता है, जिसके कारण भविष्य में पुनः रोने-पीटने के अवसर उपस्थित होते हैं। इस प्रकार तुम्हारा इस समय का रोना भविष्य के रुदन को आमंत्रण देना है। यह पाप का कारण है। अनेक जन्म व्यतीत हो गये हैं रोते-रोते ! जिनेन्द्र देव की वाणी का लाभ लेकर अब तो समझ से काम लो।

अगर इस पाप से पिण्ड छुड़ाना है और आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान से बच कर अपनी आत्मा को सुखी बनाना है तो इस कुरूढ़ि को छोड़ो। कोरे लोकदिखावे के लिए महापाप मत करो।

यह सत्य है कि तुम गृहस्थ में बैठे हो और मोह के प्रबल बंधन को काट नहीं सके हो। इस कारण प्रिय जन का वियोग होने पर शोक और संताप होना स्वाभाविक है, परन्तु ऐसे अवसर

पर बुद्धिमत्ता से काम लो। रोने को रिवाज न बनाओ। रहीम कहते हैं :—

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।

रहीम जी का कहना है, कि अपने मन के दुःख को मन में ही छिपा रक्खो; परन्तु रिवाज के अनुसार तो मन में दुःख न होने पर भी रुदन करके उसे प्रकट करना पड़ता है! यह कैसी विपरीत दशा है!

भाइयों और बहिनों को मिल कर इस प्रथा को मिटाने या फिलहाल कम करने के संबंध में विचार करना चाहिए। तभी इसमें सुधार हो सकता है।

मैंने आपको मार्ग-प्रदर्शन कर दिया है। आपके हित की और धर्म की बात वतलाना मेरा कर्त्तव्य है। उसे प्रयोग में लाना आपका काम है। आप इस बुराई का त्याग करना चाहें तो यह बड़ा ही अनुकूल अवसर है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ यहां उपस्थित है। अतः मैं तो यही परामर्श दूंगा कि इस कुप्रथा पर किसी न किसी प्रकार का प्रतिबन्ध अवश्य लगा देना चाहिए।

(सब बहिनों ने हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा कर ली कि हम मध्यान्ह में एक से चार बजे तक के तीन घंटों के सिवाय किसी के यहां रोने और बैठने नहीं जायेंगी और चार मास से अधिक वैठक नहीं रक्खेंगी।)

इसी सम्बन्ध में एक वात और कहनी आवश्यक है। किसी की मृत्यु के पश्चात् उस घर की महिला छः महीने अथवा साल भर तक मुनिदर्शन को और व्याख्यानवाणी सुनने को भी नहीं जाती है। यह भी वहुत बुरा रिवाज है। जब चित्त में अशान्ति हो,

सन्ताप हो, आर्त्तध्यान हो, उस समय संतों का समागम और वीतराग की धर्मवाणी सुनना तो अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। वह आर्त्तध्यान को कम करने का उपाय है। उसे बंद कर देना महान् पाप का कारण है। इससे धर्म की हानि होती है। जब खासतौर से धर्म की आवश्यकता हो, उस समय उसका निषेध करना एकदम उलटी बात है।

बहिनो ! मैं आपको इस बात का नियम करवाता हूँ कि जो बहिनें दर्शन करने या व्याख्यान सुनने को तीन महीने के बाद या पहले आवें तो आप उनकी निन्दा या टीका-टिप्पणी नहीं करें।

(सबने हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा ली)

सज्जनो ! जीव मात्र सुख चाहता है, दुःख से बचना चाहता है और सुख के लिए ही प्रयत्नशील रहता है, परन्तु उसके प्रयत्न विपरीत दिशा में होते हैं। वह काम हिंसा के और दुःख के करता है किन्तु स्मरण रक्खो कि जो हिंसा करता है, रुलाता है, रोता है और अपने या दूसरे के चित्त को संताप पहुंचाता है, वह दुःख की ओर जा रहा है।

ऐसा जान कर आप अपने को धर्म के पथ पर लगाओ। जिन वचनों पर पूरी आस्था रक्खो, उनके अनुसार जीवन यापन करो और अपने आत्मिक गुणों की वृद्धि करो। ऐसा करोगे तो यहां भी सुख पाओगे और परलोक में भी सुखी होओगे।

ब्यावर }
२०-८-५६ }

: ३ :

सम्यक्त्व-रक्षा

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
चार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसु का मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठि : प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित बन्धुओ !

कल मैंने बतलाया था कि मनुष्य जब दुःखों से व्यथित होता है, पीड़ित होता है, तब वह दुःखों की निवृत्ति के लिए छटपटाता है, तिलमिलाता है और इधर-उधर भाग-दौड़ करता है। वह इस विचार में संलग्न रहता है कि किसी भी उपाय से मेरे दुःखों का निवारण हो जाय। इस प्रकार की भावना होना स्वाभाविक है, क्योंकि कोई भी मनुष्य अपने आपको दुःख में नहीं देखना चाहता, इसी कारण वह दुःख से बचने के लिए दौड़-धूप करता है और जो उपाय उसकी समझ में आते हैं, करता है।

यह एक अटल सिद्धान्त है कि—'सर्वेसुखमिच्छन्ति' अर्थात् जगत् के सभी जीव सुख की ही अभिलाषा करते हैं। प्रत्येक प्राणी को सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है।

क्यों सब प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख नहीं चाहते ? क्या आपने कभी इस बात पर विचार किया है ? आपको सुख ही क्यों इष्ट है ? दुःख क्यों इष्ट नहीं है ? आप सोचते होंगे कि यह एक नूतन और निराला प्रश्न है; मगर गंभीरता के साथ आप इसका उत्तर खोजें।

वास्तविक बात यह है कि जीव यद्यपि विभाव में परिणति कर रहा है, तथापि झुकाव उसका स्वभाव की ओर ही होता है। जान में और अनजान में जीव अपने स्वभाव की ओर ही बढ़ना चाहता है। स्वभाव में ही उसे शान्ति प्रतीत होती है। विभाव दशा में वह जाता अवश्य है, किन्तु उसे शान्ति वहां नहीं मिलती। वह विभाव से ऊब जाता है। दुःख आत्मा का विभाव है और सुख स्वभाव है। इसी कारण आत्मा ज्ञात-अज्ञात रूप में सुख ही चाहता है, दुःख नहीं चाहता।

इस प्रकार सुख की स्पृहा आत्मा में स्वभाव की प्रेरणा से ही है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप वह चाहता है कि किसी भी साधन से और किसी भी मार्ग के अनुसरण से मुझे दुःखों से राहत मिले और सुख की प्राप्ति हो जाय। इस इच्छा की पूर्त्ति के लिए वह भांति-भांति के साधन जुटाता है। प्रत्येक प्राणी इसी प्रयास में संलग्न है। परन्तु क्या प्रत्येक प्राणी सुख पा लेता है? नहीं। सुख की स्पृहा सबमें समान होने पर भी और सबकी आत्मा में अनन्त आनन्द का अक्षय और अव्यय भण्डार भरा होने पर भी सब जीव सुख प्राप्त नहीं कर पाते। जो जीव दुःख-निवृत्ति की ठीक दिशा

में चलता है, सही साधनों को अपना लेता है और जो वास्तव में ही दुःखों की निवृत्ति करने वाले ठीक उपायों का अवलम्बन करता है, उसे जल्दी या देर से सुख की प्राप्ति हो ही जाती है। इसके विपरीत, जो गलत राह पर चलता है, उन्मार्ग पर चला जाता है और सही साधनों का प्रयोग नहीं करता, उसके दुःख की निवृत्ति नहीं होती। यही नहीं, कभी-कभी वह अपने विपरीत प्रयासों एवं प्रयोगों से अपने दुःखों की मात्रा को और बढ़ा लेता है और यही कहावत चरितार्थ करता है :—

विनायकं विकुर्वाणः कुर्यामास वानरम्।

अर्थात्—बनाने चला गणेश जी और बना लिया बन्दर।

सज्जनो! इस कथन पर अगर आप शान्ति के साथ विचार करेंगे तो आपके जीवन में एक अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हो सकती है। यदि आप अपने प्रयासों को विवेक की कसौटी पर कसेंगे तो पता चल जायेगा कि आपके प्रयास क्यों सफल नहीं हो रहे हैं? और क्यों विफल हो रहे हैं? आपके ही क्यों, आज सारे संसार के सामूहिक प्रयासों को भी विवेक की कसौटी पर कसने की आवश्यकता है।

दुनिया समझती है कि वह बड़ी तरक्की कर रही है। रेल, तार, वायुयान, चित्रपट, टेलिविज़न, परमाणु बम, उद्जन बम आदि-आदि असंख्य आविष्कार जो मनुष्य ने कर लिये हैं, उनसे मनुष्य जाति का बहुत विकास हो गया है। सुख बढ़ गया है। परन्तु जनता के जीवन पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो समझते देर नहीं लगेगी कि यह दावा एकदम निराधार और खोखला है। विज्ञान के अन्वेषणों ने मानव जाति के सुख की तनिक भी वृद्धि

नहीं की है। यही नहीं, इनके फलस्वरूप दुःख और अशान्ति को ही बढ़ावा मिला है। इस प्रकार चाहे समाज हो, चाहे राष्ट्र हो, चाहे व्यक्ति हो और चाहे विश्व हो, जब वह गलत रास्ते पर चल पड़ता है, उन्मार्ग पकड़ लेता है तो उसके दुःख की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है और चौबेजी छब्बे बनने के बदले दुबे बनकर ही रह जाते हैं।

सज्जनो ! आज का मानव जो साधना कर रहा है, वह अपनी-अपनी दृष्टि में सुख के लिए ही कर रहा है किन्तु वह देखता तो यह है कि मैं सुख के उद्देश्य से साधना कर रहा हूं, परन्तु यथार्थ में उसमें सुख है या नहीं ? इस प्रश्न का निर्णय कर लेना बहुत आवश्यक है।

आज पशु मारे जाते हैं, धर्म के नाम पर पशुओं की बलि दी जाती है। किसी ने पंचेन्द्रिय को मार दिया तो किसी ने एकेन्द्रिय जीवों के प्राण लूट लिये; किसी ने सेठ के हजार रुपये चुरा लिये तो किसी ने गरीब के दस रुपये चुरा लिये। जिसने साहूकार का धन चुराया है; वह भी चोर है और जिसने गरीब के दस रुपये चुराये हैं, वह भी चोर ही है। साहूकार तो फिर भी कमा लेगा या दूसरे उसकी सहायता कर देंगे, किन्तु हाल-बेहाल होगा या दुर्दशा होगी तो उस बेचारे गरीब की ही होगी। सेठ तो कदाचित् अफसरों से मिल कर अपना माल वापिस भी करा सकता है, किन्तु मुश्किल है उस गरीब की, जिसकी सुनने वाला कोई नहीं।

पंचेन्द्रिय जीव साहूकार के समान है, क्योंकि उसे पांचों इन्द्रियां मिली हैं। वह समर्थ है, बलवान् हैं। परन्तु एकेन्द्रिय

बेचारा बहुत गरीब है ? जिसे पांच इन्द्रियों में से केवल स्पर्शेन्द्रिय ही प्राप्त है, सिर्फ शरीर ही मिला है, उसके पास ले-दे कर जीवन की यात्रा का साधन जो कुछ भी था, वह सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय ही थी । उसी से वह सांस लेता है और अपनी जीवन यात्रा चलाता है। परन्तु जुल्मी ने उस बेचारे का वह साधन भी छीन लिया और बड़े अफसोस की बात तो यह है कि उसने प्राण छीने भी तो निरर्थक, बिना प्रयोजन ?

भूख लगने पर भोजन बनाना ही पड़ता है। गृहस्थ है तो रहने के लिए मकान भी बनवाना पड़ता है। इन कार्यों में होने वाली हिंसा अर्थदंड है। इस अर्थदंड को भी सम्यग्दृष्टि समझता है कि यह आरंभ है, हिंसा हो रही है और यह कर्मबंध का कारण है।

कल एक सज्जन ने रात्रि को मुझसे प्रश्न किया—महाराज, दूसरों के यहां धर्मसाधना में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है, किन्तु अपने यहां भी जब उपाश्रय या धर्मस्थानक बनाये जाते हैं, तब उसमें भी एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। इन दोनों में अन्तर क्या रहा ?

मैंने कहा—प्रश्न तो ठीक है । अन्तर इतना ही है कि एक तरफ तो उस हिंसा को धर्म कहा गया है और दूसरी तरफ उसे हिंसा-पाप बतलाया गया है। यद्यपि हिंसा दोनों जगह है, परन्तु श्रद्धा की दृष्टि से दोनों में महान् अन्तर है। पाप हो और उसे पाप ही माना जाय तो चरित्र में दोष होने पर भी सम्यक्त्व में दोष नहीं लगता । किन्तु जब पाप को पाप ही नहीं माना जाता, बल्कि धर्म समझा जाता है तो चरित्र के साथ सम्यक्त्व भी चला जाता है। अतएव यह बहुत विचारणीय बात है। उपाश्रय बनाया

अथवा बनवाया जा रहा है तो वहां भी हिंसा हो रही है, आरंभ हो रहा है और यही सम्यग्दृष्टि की विचारणा है। शुद्ध जैनधर्म की, तीर्थंकरों की या स्थानकवासी सम्प्रदाय की जो परम्परा चली आ रही है, उसके अनुसार हिंसा, हिंसा ही है; पाप, पाप ही है।

तो मैंने आपसे यह कहा कि अपनी जो धारणा है कि जो उपाश्रय बनाते हैं, धर्मस्थान बनाते हैं तो वह धर्मस्थान धर्म नहीं है। धर्म और चीज है धर्मस्थान और चीज़ है। वस्तुतः धर्मस्थान धर्म नहीं है, किन्तु उस स्थान पर जो धर्म किया जाता है, वह धर्म है।

एक मकान घर-गृहस्थी के कामों के लिए बनाया जाता है और दूसरा धर्मध्यान के लिए बनाया जाता है। आरंभी हिंसा दोनों में बराबर है। छहकाया का कूटा तो दोनों में ही समान है। किन्तु एक मकान, जो धर्मध्यान के लिए बना है, यद्यपि उसका बनवाना तो हिंसा में है, मगर उसके बन जाने के पश्चात् उसमें जो सामायिक, पौषध आदि क्रियाएं होती हैं, वे सब धर्मखाते में लिखी जायेंगी। मकान बनवाने की जो क्रियाएं हैं, वे धर्म के खाते में नहीं लिखी जायेंगी।

यही दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। दूसरे लोग कहते हैं कि हम धर्मबुद्धि से, देवबुद्धि से फल-फूल पानी आदि का आरंभ करते हैं। अब समझौता तभी ही हो सकता है कि जैसे हम उस हिंसा को हिंसारूप पाप मानते हैं, कर्मबंध का कारण मानते हैं, उसी प्रकार वे भी यही कहें कि हम भी धर्म और देव निमित्त फल-फूल पानी आदि के आरम्भ में हिंसारूप पाप मानते हैं, धर्म नहीं मानते। मगर यह समझौता हो कैसे सकता है ? जहां आप उपाश्रय बनवाने में होने वाली हिंसा को कर्मबंध का कारण मानते हैं,

वहां वे हिंसा में निर्जरा मानते हैं, उसे कर्म टूटना मानते हैं । इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है । हिंसा में धर्म मानोगे तो भगवान् ने कहा है :—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजयो न वो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

धर्म तो अहिंसा, संयम और तप है । मगर अहिंसा किसकी ? एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों पर जितने-जितने अंशों में अहिंसा है, दया है; उतने-उतने अंशों में धर्म है और जितने अंशों में हिंसा है, उतने अंशों में अधर्म है ।

आपने अपनी सन्तति की सगाई में, शादी में, मकान बनवाने में, कपड़े बनवाने में या भोजन-सामग्री लाने में खर्च किया । इस खर्च को आप खर्च में लिखेंगे, आमद में नहीं लिखेंगे । मगर एक बात याद रखने की है और वह यह कि खर्च-खर्च में भी अन्तर है । एक ने तो अपना सिर छिपाने के लिए छोटा-मोटा मकान बनवा लिया और भोजन के बिना काम नहीं चलता, अतएव भोजन के लिए भी कुछ खर्च किया । इस प्रकार उसने जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए खर्च किया और दूसरे ने दारू पीने में, वेश्यागमन में और जुआ खेलने में खर्च किया । खर्च तो दोनों ही हैं, परन्तु एक जीवन की साधना के लिए है और दूसरा व्यसनों के पोषण के लिए । आप ईमानदारी से उत्तर दीजिए कि दोनों खर्च क्या एक सरीखे हैं ? नहीं, कभी नहीं ।

दोनों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है । जो व्यक्ति जीवन-साधना के लिए खर्च करता है, उसे कोई पापी या अधर्मी नहीं कहता; क्योंकि उस खर्च के बिना जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता ।

क़िन्तु जहां खर्च करना आवश्यक न था, जैसे शराब के बिना, मांस के बिना, जुए के बिना और व्यभिचार के बिना मनुष्य का काम चल सकता है, बल्कि अच्छा चल सकता है, इसलिए वह पाप है। इन कामों में खर्च न करने से उसकी आन और शान भी बढ़ती है, लोक और परलोक भी सुधरता है। जो बुरे कामों में खर्च करने वाला है, वह गुंडा और बदमाश कहलाता है। इस प्रकार के निकृष्ट कामों में जो धन लुटाता है, वह पकड़ा जाता है; क्योंकि सरकार की ओर से ऐसे कानून बने हुए हैं। उसे सजा दी जाती है। अतएव इस प्रकार खर्च करने से दो नुकसान हुए—प्रथम खर्च तो घर का खर्च हुआ और दूसरे कानून का उल्लंघन करने से दंड का भागी बनना पड़ा। ऐसे लोग जब यहां भी दंड के भागी बनते हैं तो परलोक में क्यों नहीं बनेंगे? इस तरह दोनों खर्च करने वालों में से एक नेक कहलाया और दूसरा अधर्मी कहलाया।

इसी प्रकार एक आरंभ ऐसा होता है कि जिसके बिना काम न चल सके। उसे करने वाले को कोई खोटा नहीं कहता; किन्तु जो फिज़ूल खर्च करता है, वह पैसे का अपव्यय भी करता है और सरकार के दंड का भागी भी होता है। संसार में उसकी बदनामी भी होती है।

तो संसार के कामों में जो खर्च होता है, वह अर्थदंड आरंभ है, क्योंकि आप अपने सांसारिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए खर्च करते हैं। फिर भी खर्च तो खर्च ही है, वह आमदनी में नहीं लिखा जायेगा। कहने का आशय यह है कि हिंसा हिंसा ही है। किसी भी उद्देश्य से की हुई हिंसा धर्म नहीं हो सकती।

सज्जनो! दुःख के मूल कारण को समझो। दुःख कहां से निकला है? इसका स्रोत कहां है? उद्गम-स्थान क्या है और

वे फ़िर वोले—नमस्कार पुण्य भी आया है शास्त्र में ?

मैंने उत्तर दिया—ठीक है, किन्तु नमस्कार किसे करना चाहिए ? यह नौ पुण्य किसके लिए हैं ? जीव के लिए हैं। अन्नपुण्य किसको देने से होता है ? क्या पाटिया को खिलाने-पिलाने से होगा ? और नमस्कारपुण्य, वस्त्रपुण्य आदि-आदि की आवश्यकता किसको है ? इन सब चीजों की आवश्यकता जीव को होती है। जड़ को सुख-दुःख या भूख-प्यास का प्रश्न ही नहीं है। उसे न सुख है, न दुःख है। अन्नपुण्य, पानपुण्य आदि का संबंध जीव के साथ ही है, जड़ के साथ नहीं। अगर रोटी किसी मुर्दे को खिलाई जाय तो क्या वह खायेगा और खिलाने वाले को पुण्य होगा क्या ? पुण्य करने वाला भी और उसका फल भोगने वाला भी चेतन होता है। विवाह-सम्बन्ध तभी होता है जब दोनों चेतन हों। एक चेतन हो और दूसरा रबड़ का हो तो उनकी शादी किस काम की ? अरे दुनिया के लोगो ! दोनों ही चेतन होने चाहिए और तभी सन्तानोत्पत्ति शक्य है। इसी प्रकार पुण्य रूपी संतान भी तभी उत्पन्न होगी जब कि लेने वाला और देने वाला दोनों ही चेतन होंगे। यदि देने वाला चेतन है और लेने वाला जड़ है तो पुण्य नहीं हो सकता।

तत्पश्चात् प्रश्न किया कि शास्त्रों में जगह-जगह मूर्ति का नाम आया है। इस संबंध में आपका क्या कथन है ? मैंने कहा—शास्त्रों में चोर, जार, वेश्या वगैरह के नाम भी आये हैं। ऐसा उल्लेख आता है कि अमुक नगर में इतनी वेश्यायें थीं। इसका यह मतलब नहीं कि यह वेश्यागमन के लिए बतलाया है। वहां तो

जैसी स्थिति थी वैसी बतला दी गई है। उसमें कोई जानने योग्य है, कोई छोड़ने योग्य है और कोई ग्रहण करने योग्य है।

फिर वे बोले—उस समय वे वेश्यायें व्यभिचार करने वाली नहीं होती थीं, किन्तु कला सिखाने वाली होती थीं। मैंने कहा यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, दुःख विपादादि में वेश्याओं का व्यभिचारशील होना सिद्ध है। इसलिए उनका शास्त्र में कथन आया है।

सज्जनो ! जो जैसा पक्ष ले लेता है, उसे उसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ कहना ही पड़ता है। अफीम खाने वाला कहता है—अफीम से प्रतिभा बढ़ती है, गहरी नींद आती है। उसे खाने से थकावट महसूस नहीं होती। वह यह नहीं कहता कि अफीम खाने से मृत्यु हो जाती है। तो वेश्याओं से राजकुमार कला सीखते थे, यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि राजकुमार तथा सेठों के लड़के बड़े होते थे तो उनको पढ़ने के लिए कलाचार्य के पास भेजा जाता था, ऐसा शास्त्रों में वर्णन आता है।

आचार्य तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। नृत्य करने, गीत गाने, पहेली बनाने, बत्तीस प्रकार के नाटक करने आदि की कलाएं सिखाना कलाचार्य का काम था, वेश्या का नहीं। ७२ प्रकार की कलायें कलाचार्य सिखलाते थे। सौ प्रकार के शिल्प शिल्पाचार्य सिखलाते थे और धार्मिक साधना के मार्ग को सिखलाना धर्माचार्य का काम था। अतएव यह बात गलत है कि पूर्व काल में वेश्याओं से कला-शिक्षण ग्रहण किया जाता था।

यह चार निक्षेपों की बात यहां के लाला पन्नालाल जी ने चलाई थी। मैंने सहज भाव से उनसे चार निक्षेपों के नाम पूछे तो

वे इधर-उधर घूमने लगे, किन्तु ठीक तरह से चारों के नाम न गिना सके। मैंने कहा—किराने के दुकानदार को अगर किराने की चीजों के नाम ही याद न हों तो वह व्यापार क्या करेगा ? अस्तु: शास्त्र में चार निक्षेप आये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। ये चार निक्षेप प्रत्येक वस्तु में घटते हैं, चाहे वह जड़ हो या चेतन हो। मैं इस पाट पर शयन करता हूं। इसमें भी चार निक्षेप घटित होते हैं। यह पाट है, इस प्रकार वस्तु की 'पाट' यह संज्ञा नाम निक्षेप है। यह इतना लम्बा-चौड़ा और इस प्रकार की आकृति वाला है, यह स्थापनानिक्षेप हो गया। जिस लकड़ी से बना है, वह द्रव्यनिक्षेप है। इसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श आदि भाव हैं। इसलिए भाव निक्षेप हो गया। इस प्रकार इस पाट में चारों निक्षेप विद्यमान हैं तो क्या आप इसको भी वंदना-नमस्कार करोगे ? यदि चार निक्षेप वाले सभी वन्दना करने योग्य हैं तो कीजिए, इसको भी वन्दना कीजिए। अगर आप सोचते हो कि इसे वन्दना कैसे की जाय तो पाषाण की कल्पित आकृति को भी कैसे वन्दन किया जाय ? पाट वनस्पतिकाय का मुक्केल्लग शरीर है और वह पृथ्वीकाय का मुक्केल्लग शरीर है। उसमें भी चार निक्षेप हैं। नाम तो उसका मूर्ति है ही। उसकी आकृति विशेष रूप स्थापना भी है। जिस पाषाण से ही बनी है, वह द्रव्यनिक्षेप है। यदि द्रव्यनिक्षेप नहीं होता तो नाम और स्थापना भी न होते और वर्णारूप भावनिक्षेप भी न होता। अतएव यदि वह पुद्गल भी वन्दनीय नहीं है तो दूसरा पुद्गल भी वन्दनीय नहीं है।

सज्जनो ! आप लोगों को दिल मिला है, दिमाग मिला है, तो विचार करो। ऐ मनुष्य ! चौरासी लाख जीवयोनियों में

तेरा सिंहासन सबसे ऊंचा है। विकसित होने का तुझे जो अवसर प्राप्त है, वह दूसरे को प्राप्त नहीं है। इस मनुष्य शरीर से पांचों ज्ञान, पांचों समकित, पांचों चरित्र और पांचों गतियां प्राप्त होती हैं। यहां आला से आला जो कुछ है, वह मनुष्य के लिए है। ऐ अभागे ! तेरे लिए भगवान का कितना माल और कितना किराना रक्खा है, फिर भी तू उधर न चल कर उलटे रास्ता जाता है। कितने दरवाजे खुले रक्खे हैं कि मर्जी हो सो, खा, पी और पहन। किन्तु फिर भी गली में जाकर सड़ी-गली चीजें खा रहा है। मनुष्य जन्म मिलना बहुत कठिन है। किसी कवि ने कहा है :—

> **मुश्किल पाना चेतन, ये तो नरतन फेर।**
> **लख चौरासी माई, तेने उमर गंवाई।**
> **मर मर उपजा वाहीं, दुःख पाया घणेर ॥१॥**
> **मनुष्य देह पाई कर नेक कमाई, शिक्षा मान भाई।**
> **मन को विषयों से घेर ॥२॥**
> **तन धन जोवन जाणों, रंग पतंग समानो।**
> **शबनम बिन्दु कहानो, ढलते लगदी न देर ॥३॥**

सज्जनो ! गुरु महाराज चेतावनी दे रहे हैं कि ऐ दुनिया के पामर प्राणियों ! अबोध जीवो ! जागो। समय तुम्हारे जागने का है। अगर इस बार अवसर चूक गये तो फिर जल्दी हाथ नहीं आने का है।

आपको मालूम है कि एक दफा जो मनुष्य जन्म से पिछड़ गये तो फिर कितना आंतरा है ? मनुष्य मर कर पुनः मनुष्य रूप में उत्पन्न हों तो जघन्य अन्तमुहूर्त्त का अन्तर होता है। दो घड़ी का मुहूर्त्त होता है और दो समय से लगाकर दो घड़ी में एक

इसका मूल बीज क्या है ? किस प्रकार दुःख रूप वृक्ष खड़े हो जाते हैं और कटु फल देते हैं ?

इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए और दुःख के कारणों का पता लगाने के लिए बहुत-से लोग चले, किन्तु कोई मील भर चला, कोई दो मील चला, मगर आखिरी मंज़िल तक कोई नहीं पहुंच सका । किसी ने कहा, ग्रह-नक्षत्रों ने दुःख दिये हैं; किसी ने बतलाया, भूत-पिशाचों के कोप से पुत्र उत्पन्न हुए हैं; कोई कहता है, विमाता ने दुःख दिया है; कोई कहते हैं, वात, पित्त, कफ के विकार के कारण दुःख की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार अनेक तरह की कल्पनाएं की गईं और दुःख के स्रोत को समझने का प्रयत्न किया गया । मगर वास्तव में जहां से दुःख की उत्पति हुई, वहां उनकी नज़र नहीं पड़ी । वे दूसरी-दूसरी जगहों में ही दुःख का स्रोत खोजते फिरे; असली जगह पर दृष्टिपात ही नहीं किया गया ।

इसमें उन बेचारों का दोष भी क्या है ! वे असली स्रोत तक पहुंचते कैसे ? वह मंज़िल तो बहुत दूरी पर है । वहां तक तो जो प्राणों को हथेली पर लेकर, प्राणों की बाजी लगाकर जाना चाहे, वही जा सकता है ।

भगवान् तीर्थंकरों को संसार के उत्तम से उत्तम पदार्थ प्राप्त थे । सुख की समग्र सामग्री उपलब्ध थी । वे राजपाट, और आराम की सब चीज़ें, सब ठाटबाट छोड़कर चले और दृढ़ निश्चय करके चले । मार्ग में पर्वत आये, नदियां आईं, देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों के उपसर्ग आये, मगर कोई भी शक्ति उनका पथनिरोध न कर सकी, उनकी गति को कुंठित करने में समर्थ

न हुई और उनके धैर्य एवं पराक्रम को धीमा न कर सकी। वे आगे से आगे बढ़ते ही चले गये। उनका एकमात्र दृढ़ संकल्प था कि हमें अपने लक्ष्य पर पहुंचना है और बीच में नहीं रुक जाना है। बराबर लक्ष्य पर पहुंचेंगे और पीछे नहीं हटेंगे या बीच में नहीं रुकेंगे, ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करके जो निकलते हैं, उन्हीं को सफलता प्राप्त होती है; वही अपने इच्छित उद्देश्य की पूर्त्ति करते हैं।

इसके विपरीत, जो साधक बाधाएं आने पर, मुसीबतें आने पर पथभ्रष्ट हो जाते हैं, चलते-चलते थक जाते हैं और बैठ जाते हैं, उनकी गति अवरुद्ध हो जाती है। वे ध्येय तक पहुंचने में असफल सिद्ध होते हैं। अतएव भद्र पुरुषो! मैं आपसे कह रहा था कि यह मंज़िल बड़ी दूर की है और इस तक पहुंचने के लिए अथक परिश्रम होना चाहिए। ऐसी दृढ़ भावना हो कि कोई भी मुसीबत आये, उसे पार करते चलें।

याद रक्खो, जिसमें उत्साह होता है, वीरता होती है, जीवन में कार्य करने की पूरी लगन होती है, वे अपने ध्येय में सफल होते हैं। आपत्तियां आती हैं, वे पहाड़ की तरह अड़कर रास्ता रोक देती हैं और कभी-कभी उनपर विजय प्राप्त करने के प्रयास में प्राण भी निछावर कर देने पड़ते हैं, फिर भी साधक—सच्ची लगन का साधक—क्षण भर भी पीछे हटने का विचार नहीं करता और न अपना मार्ग ही बदलता है। वह मृत्यु का आलिंगन करके अपने शेष रहे कार्य को आगामी जीवन में पूरा करता है; क्योंकि उसको पूर्ण विश्वास होता है कि आत्मा अमर है और परिपूर्ण सिद्धि के लिए अनेक जन्मों में साधना करनी पड़ती है।

विरोधी शक्तियां यों ही नष्ट नहीं होतीं, किन्तु जब अपनी ताकत अधिक होती है तभी वे नष्ट होती हैं। अपनी शक्ति को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सभी शक्तियों का समन्वय किया जाय, सब मिल कर जूझें। तभी काम हो सकता है। अगर एक-एक शक्ति बिखरी हुई प्रतिपक्षी के मुकाबले पर आयेगी तो उसे परास्त होना पड़ेगा। इसके विपरीत शक्तियां एक साथ मिल कर प्रतिपक्षी पर आक्रमण कर दें तो विजय प्राप्त होने में कोई शंका नहीं है।

दीपक पर पतंगे आ-आ कर गिरते हैं। एक आया, तो खत्म हो गया। दूसरा आया, वहीं खत्म हो गया और इस तरह हज़ारों की लाशों का ढेर लग जाता है। इस प्रकार एक-एक आने के कारण वे खत्म होते चले गये। कदाचित् उन पतंगों में यह समझ होती कि एक-एक आने के कारण ही हम सब समाप्त हो रहे हैं और यह समझ कर वे हज़ारों की संख्या में संगठित होकर दीपक पर टूट पड़ते तो दीपक को बुझना ही पड़ता। हां, ऐसा करने में दस-बीस की जान तो अवश्य जाती किन्तु बाकी सबके लिए आराम हो जाता। पीछे वालों को भस्म होने का अवसर न आता।

इसी प्रकार जब तक मनुष्य की मानसिक, वाचिक, कायिक तथा ज्ञान, दर्शन और चरित्र संबंधी शक्ति और विचार-शक्ति पृथक्-पृथक् रहती है, तब तक वह धर्म के क्षेत्र में विजय नहीं कर सकता। किन्तु जब यही शक्तियां एक साथ सुसंगठित होकर केन्द्रित होकर, एक दिशा में, एक ही ध्येय से चलती हैं, तो बड़े

से वड़े प्रतिपक्षी को–मिथ्यात्व और मोह को–परास्त कर देती हैं, उसे निर्मूल वना देती हैं।

तो मैं कहने जा रहा था कि मनुष्य चलता है किन्तु रास्ते में जव आपत्तियां आती हैं तो वह रुक जाता है और आगे नहीं वढ़ पाता, इस कारण उसे सफलता भी नहीं मिलती। इस तरह अनेक ऋषि-मुनि चले, किन्तु विफल हुए।

तो इस दुःख को जन्म देने वाला कौन है ? सभी चले ढूंढ़ने को। किसी ने ग्रह-नक्षत्रों को दुःख का मूल माना, किसी ने देवों को और किसी ने भैरो, भवानी, जगदम्वा को ही दुःख का कारण समझ लिया और उसी में उलझ गये। वहीं भगवान् महावीर भी दुःख के मूल स्रोत की तलाश में कटिवद्ध होकर चले। वे दृढ़प्रतिज्ञ होकर चले कि मेरे क़दम आगे से आगे वढ़ते जायेंगे, पीछे नहीं हटेंगे। उनके मार्ग में देवों ने उपद्रव किया, मनुष्यों और तिर्यंचों ने भी वाधा पहुंचाई, उनके मार्ग को रोकना चाहा, रोका भी, किन्तु उस महा-वीर महावीर के क़दम आगे वढ़ते ही गये। अप्रतिहत गति से उन्होंने अपने क़दम वढ़ाये थे, अतः कहीं भी वे डगमगाये नहीं। वह महावीर थे— 'यथानाम तथा गुण' की उक्ति को पूर्णरूपेण चरितार्थ करने वाले अतिवीर थे।

नाम के पीछे भी कोई न कोई शक्ति और सच्चाई होनी चाहिए। कल रात्रि में कुछ वात चली थी तो एक भाई ने कुछ प्रश्न किये। उन्होंने कहा—नामादि चार निक्षेप शास्त्र में चले हैं, सो यह वात कैसे है ?

मैंने कहा—हां भाई, चार निक्षेप चले हैं।

हिंसा मिथ्यात्व विषम मार्ग है,
नरक माहिं तुझे ले पटके ॥ इस०, २ ॥
दया समकित की सड़क अनोखी,
मुक्ति-नगर में पहुंचा दे सटके ॥ इस०, ३ ॥
अनन्त जीव इस मार्ग चली ने,
मोक्ष गया है कर्म कटके ॥ इस०, ४ ॥

सज्जनो ! आज राखी का दिन है । मैंने सोचा कि मैं भी आपको राखी बांध दूं । आज बाजार में दूकानें सजी हैं और रंगविरंगी राखियां बिक रही हैं । परन्तु स्मरण रक्खो, यह राखियां कच्ची हैं । यह खराब हो जायेंगी । अगर तुमने समकित की राखी बंधा ली तो कल्याण हो जायेगा । वह ऐसी रक्षा है कि कभी टूटती नहीं—निष्फल जाती नहीं । वह तुम्हें मोक्ष में ले जायेगी । अतएव आप रक्षा का बन्धन करो । रक्षा की प्रतिज्ञा करो कि हम यथासंभव सब जीवों की रक्षा करेंगे और हिंसा में धर्म नहीं मानेंगे । दया में ही धर्म मानेंगे ।

भाइयो ! असली रक्षाबंधन तो यही है । आप ऐसी राखी बांधो कि टूटे नहीं, फूटे नहीं और जहां भी जाओ, सदा साथ में रहे । मोक्ष में जाओ तो वहां भी वह सादि-अनन्त राखी तुम्हारे साथ ही रहे । ऐसी राखी ही सच्ची राखी है । उसी को बांध कर अपनी आत्मा का कल्याण करो ।

जैसे दूसरों को सुख पहुंचाने से आपको सुख प्राप्त होता है, दुःख पहुंचाने से दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरे प्रणियों की रक्षा करने से अपनी रक्षा होती है, आत्मरक्षा का असली साधन पररक्षा है । वे भ्रम में हैं, अज्ञान में हैं, अंधकार में हैं जो

दूसरे जीवों की हिंसा करके अपनी रक्षा चाहते हैं। ऐसे लोगों की कदापि रक्षा नहीं हो सकती। रक्षा उन्हीं की होगी, निर्णय वही होंगे, जो दूसरे प्राणियों की रक्षा करेंगे और उन्हें अभय बनायेंगे।

भद्र पुरुषो ! जो असली और सच्चा सुख चाहते हो तो शुद्ध देव, गुरु और धर्म पर सुदृढ़ श्रद्धा धारण करो और गुणों के पुजारी बनो। जो गुणों के पुजारी बनेंगे और वीतराग देव द्वारा प्ररूपित सन्मार्ग पर चलेंगे, वे संसार-समुद्र से तर जायेंगे और अनन्त आत्मिक आनन्द के भागी बनेंगे।

ब्यावर
२१–८–५६

: ४ :

दुःखों का उद्गम

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो !

कल मैंने बतलाया था कि यह जीव अनादिकाल से दुःखों की परम्परा को भोगता चला आ रहा है, उसका मूल कारण क्या है, मूल स्रोत कहां है ? इस तथ्य को जब तक समझ नहीं लिया जाता, तब तक दुःखों पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। क्योंकि जब तक रोग का पता नहीं लगता, उसका इलाज नहीं हो सकता।

दुःखों का रोग अनन्त काल से आत्मा के साथ चला आ रहा है। उसको समझने के लिए भी किसी विशेषज्ञ वैद्य-डाक्टर की आवश्यकता है। रोग जब तक थर्ड स्टेज—तृतीय अवस्था

पर नहीं पहुंचा है, तब तक ही उसका इलाज हो जाना चाहिए। तृतीय श्रेणी पर पहुंच जाने के पश्चात् और असाध्य हो जाने पर उसका इलाज होना संभव नहीं रहता। किन्तु यह रोग, जो परम्परा से जीव के साथ लगा है, एकाएक समझ में नहीं आता।

आत्मा दुःख नहीं चाहता, फिर भी इसके पीछे दुःख क्यों लगा हुआ है, इस बात की जांच करने के लिए बहुत से आचार्यों ने, धर्मगुरुओं ने और अध्यात्म के नेताओं ने विचार किया है। वे बैठे नहीं रहे। उन्होंने सोचा है, विचार भी किया है और खोज में आगे भी बढ़े हैं, मगर सफर बहुत ही लंबा था। मंज़िल तक पहुंचने के लिए बड़ी तैयारी की आवश्यकता थी और अटूट धैर्य अपेक्षित था। इसके अभाव में वे कृतकार्य न हो सके। मूल कारण को नहीं समझ पाये और कुछ का कुछ समझ बैठे। उनकी दृष्टि दुःखों के अन्तरंग कारण तक न पहुंच सकी और वे बाह्य चीज़ों को ही दुःख का कारण मान बैठे।

दुःखों का मूल स्रोत इतना सूक्ष्म है कि वह दिव्य चक्षुओं के द्वारा ही देखा जा सकता है, न कि बाह्य नेत्रों द्वारा। केवल ज्ञान और केवल दर्शन रूप आंखें ही उसके सूक्ष्म स्वरूप को देख सकती हैं। जिन्हें यह नेत्र प्राप्त नहीं थे, वे समझने का प्रयत्न करके और चाहना करके भी उसे न देख पाये और ऐसा होना भी स्वाभाविक ही था।

उसी दुःख रूपी रोग की उत्पत्ति के मूल स्रोत को समझने के लिए भगवान् महावीर भी चले। उन्होंने दुःखों के मूल उद्गम स्थल को जानने लिए, उनसे राहत पाने के लिए और दूसरों को दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए राजपाट छोड़ा, ऐश-आराम को

समय कम तक का काल अन्तर्मुहूर्त्त कहलाता है। यदि मनुष्य को पुनः मनुष्य होने में उत्कृष्ट अन्तर पड़े तो अनन्त काल का अन्तर हो सकता है। अनन्त उत्सर्पिणियां और अनन्त अवसर्पिणियां व्यतीत हो जाती हैं, फिर भी मनुष्यजन्म की प्राप्ति नहीं होती। अनन्त चौवीसियां गुज़र जाती हैं और यह जीव निगोद में ही पड़ा सड़ता रहता है।

वहिनो! देवियो! जरा गौर से खयाल करो कि फ़कीर क्या कह रहा है? मनुष्य का अन्तरकाल उत्कृष्ट अनन्त काल है।

स्थिति दो प्रकार की है—भवस्थिति और कायस्थिति। भव जन्म को कहते हैं। एक जन्म में स्थित रहने की काल-मर्यादा को भवस्थिति कहते हैं। और भव तो वदलते रहें किन्तु पृथ्वीकाय आदि काया वही वनी रहे—उसी एक काय में वार-वार जन्म लेकर उत्पन्न होता रहे और मरता रहे, उसे कायस्थिति कहते हैं। उदाहरणार्थ—पृथ्वीकाय का जीव अपनी भवस्थिति पूरी करके मरा और फिर पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न हो गया। उस भव को पूर्ण करके फिर मरा और फिर पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो गया। इस प्रकार लगातार पृथ्वीकाय में जितने समय तक जीव रहता है, उस काल को कायस्थिति कहते हैं। निगोद की भवस्थिति जघन्य और उत्कृष्ट, दोनों अन्तर्मुहूर्त्त की है, परन्तु कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट अनन्त काल की है। निगोदिया जीव एक अन्तर्मुहूर्त्त में ६५५३६ भव करता है। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि उसका जन्म-मरण कितनी जल्दी-जल्दी होता है! वास्तव में यह वर्णन सुनकर रोमांच खड़े हो जाते हैं। निगोद के जीव को कितनी वेदना और

कितनी व्यथा होती होगी ? एक श्वास जितने अत्यल्प समय में जिसे अठारह वार मरना और जन्म लेना पड़ता है, उसके दुःखों का किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है !

भद्र पुरुषो ! भगवान् ने सबसे अधिक एवं गहरा दुःख जन्म-मरण का बतलाया है। इस दुःख की तुलना में जीवन के बड़े से बड़े दुःख भी नगण्य हैं।

इसलिए मैं कहता हूं—यदि यह पतंग हाथ से छूट गई तो फिर डोर काबू में नहीं आयेगी। अरे मानव ! तूने अत्यन्त कठिनाई से, न जाने किन-किन भवों में भटकने के पश्चात्, कैसी-कैसी वेदनाएं सहन करने के अनन्तर, मनुष्यभव पाया है। इसे पाया है तो धर्मसाधना द्वारा सफल कर लो, इससे जो उत्तम लाभ प्राप्त किया जा सकता है, कर लो। निरर्थक मत गंवाओ।

दुनिया के लोगो ! जिसने जन्म लिया है, उसे अवश्य मरना पड़ेगा। जन्म लेने में तो कदाचित् सन्देह हो सकता है, किन्तु मरने में सन्देह नहीं। अतएव अपनी अनिवार्य आगामी मृत्यु के विचार को सदा सामने रखकर सरल व्यवहार करो। धर्मपूर्वक जीवनयापन करो। ढिठाई क्यों करते हो ? छल-कपट और प्रपंच किस लिए करते हो ? आखिर तो यहां दुनिया के पदार्थ दुनिया में ही रह जायेंगे और तुम्हें अपने पाप-पुण्य को साथ लेकर जाना पड़ेगा !

एक फकीर हो गया है, जिसका नाम मेहरमशाह था। वह खुदापरस्त या ईश्वरभक्त था। वह खुदा की बंदगी करता था और हमेशा खुश रहता था।

एक दिन फकीर किसी गहन विचार में डूबा था कि तभी उसका एक भक्त आया। उसने कहा—आप तो हमेशा खुश रहने वालों में हैं। फिर आज यह उदासी क्यों? किस कारण चिन्ता में बैठे हैं?

फकीर ने जो उत्तर दिया, वह पंजाबी भाषा की कविता में इस प्रकार प्रकट किया गया है :—

हे होल . । मैनुं, मंजिलां दा ने, पल्ले राहदा खर्च तैयार नाहीं।
उत्थे औखियां घाटियां, राह लंबे दूजा नाल मेरे कोई यार नाहीं।
उत्थे नगद बाजार विच तार नीगे, उत्थे घड़िदा कुछ उधार नाहीं।
मेहरम शाह दिल संशया विच रहंदा,पल्ले कौडियां ने मेरे चार नाहीं।

इस कविता का नाम है वैंत। अपराधियों को वैंत लगाये जाते हैं। कहो तो तुम्हारे भी लगा दिये जायें वैंत। तुम भी बहुत गपड़सपड़ करते हो। लेकिन प्रिय बन्धुओ! फिक्र मत करना। कल से आना मत छोड़ देना। इस कविता का नाम वैंत है तो ज्ञानी जनों ने भी ललकार लगाई है। वह ललकार ही उनका वैंत लगाना है।

मेहरमशाह कहता है—मंजिल का रास्ता बहुत बड़ा है, किन्तु रास्ते के लिए खर्चा नहीं है। कोई ऐसा लंगोटिया यार भी तो नहीं है जो रास्ते में मुझे दुःख से बचा ले। वहां तो नगदी का सौदा है, उधार का काम नहीं है।

चांदनी चौक दिल्ली में घंटे वाला हलवाई प्रसिद्ध है। कोई ब्यावर वाला उसकी दुकान पर जाय और कहे कि एक रुपये की मिठाई दे दो और रुपया मेरे नाम लिख लो। तब वह यही कहेगा कि पधारो आगे, यहां उधार का काम नहीं है। तो जब दिल्ली में

भी उधार का काम नहीं है तो वह मंजिल तो वहुत दूर की है। वहां उधार की सम्भावना ही क्या है ? यहां से साथ ले जाओगे तो आराम पाओगे।

तो मैं कहना चाहता हूं कि समकित का माल ले लो। फिर आनन्द ही आनन्द है। अगर यहां से दिवाला निकाल कर चले तो फिर समझ लो कि कुशल नहीं है।

मेहरमशाह कहता है—रास्ता लम्बा है और मेरे पास खर्च नहीं है।

जो जात-पांत के चक्कर में पड़ गये तो अनन्त काल गुज़र जाने पर भी मोड़ पर आना मुश्किल हो जायेगा। इसलिए वहिनो और भाइयो ! यह फकीर वार-वार चेतावनी दे रहा है कि—अगर दुःख से छुटकारा चाहते हो तो जिधर साफ रास्ता हो, उधर ही चलो। कांटों के रास्ते पर चलोगे तो सुख नहीं पाओगे। मिथ्यात्व का मार्ग तीखे कांटों से व्याप्त है। उसपर चल कर किसी ने सुख नहीं पाया और तुम भी सुख नहीं पा सकते। अतएव समकित के ही रास्ते पर चलो।

अफसोस है कि इतना समझाने पर भी भाग्यहीन जन भाटों में भटकते हैं, कांटों में क़दम रखते हैं और कीच में चक्कर काटते फिरते हैं। अतएव याद रक्खो कि तुम्हें सही और सलामत रास्ते पर ही चलना है। कहा है :—

इस रास्ते चले जा तू बेखटके—खटके।
दयाधर्म की सड़क बनी है,
इधर-उधर तू कांई भटके ॥ इस०, १ ॥

सब साधन त्यागे और सांप की केंचुली के समान सब पदार्थों को छोड़ दिया। उन्होंने निश्चित दिशा में दृढ़ निश्चय के साथ क़दम बढ़ा दिये और सुदृढ़ संकल्प कर लिया कि मैं दुःख के उद्गम स्थान को, रागोत्पत्ति के मूल कारण को ढूंढ कर ही रहूंगा। इस खोज से मेरे क़दम कभी पीछे नहीं हटेंगे। उन्हें अपने दृढ़ निश्चय पर अटल विश्वास था और पुरुषार्थ के प्रति अविचल श्रद्धा थी।

जिस मनुष्य को अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं होता, उसे सफलता भी नहीं मिलती, क्योंकि वह अपने विषय में पहले से ही शंकाशील है कि मैं सफलता के क्षेत्र तक पहुंच सकूंगा या नहीं, अपने उद्देश्य को पूरा कर सकूंगा अथवा नहीं ? इस प्रकार की आशंका उसके बल को कम कर देती है और निर्बल संकल्प तथा निर्बल पुरुषार्थ मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकता है, कम से कम आगे बढ़ने की प्रेरणा तो नहीं ही देता। जिसकी आत्मा इस प्रकार डावांडोल होती है, वह सम्पूर्ण शक्ति के साथ आगे नहीं बढ़ पाता।

हां, तो महावीर स्वामी दृढ़प्रतिज्ञ होकर चले। एकनिष्ठा लेकर चले। उनके आगे एक ही विचार था कि मैं जिस कार्य को पूर्ण करने, जिस साध्य की सिद्धि के लिए निकला हूं, उसे पूर्ण करके ही रहूंगा, बीच में नहीं छोड़ूंगा। वे उस पथ पर कितने वर्षों तक चलते रहे लगातार ? उस स्रोत का पता पाने के लिए, शक्ति ग्रहण करने लिए और भावनेत्र प्राप्त करने लिए कि जिनके द्वारा वह दुःखस्रोत ठीक-ठीक समझा जा सके। वे एक नहीं, दो नहीं, चार नहीं, किन्तु साढ़े बारह वर्ष तक अनवरत एवं अबाध गति से चलते रहे।

शास्त्र में प्रमाण मौजूद है कि भगवान् महावीर ने अपनी साधना के समय में कभी भी प्रमाद नहीं किया। एक बार जब सायंकाल में दो घड़ी मात्र निद्रा आती है तो उसमें भी भगवान् उत्तमातिउत्तम दस स्वप्न देखते हैं, जो बड़े ही महत्त्व के थे, मोक्ष-प्राप्ति के सूचक थे। मैं बांस की जड़ें उखाड़ फेंक रहा हूं, राक्षस को पछाड़ रहा हूं इत्यादि आने वाले स्वप्न, कर्म जड़ को उखाड़ कर फेंकने तथा मोहराज को पछाड़ डालने आदि के बोधक थे।

भगवती सूत्र में स्वप्नों का उल्लेख आया है कि जिसे ऐसे-ऐसे स्वप्न आयें, वह आत्मा एक भव करके अथवा दो भव करके अवश्य ही मोक्ष में चला जाता है।

तो भगवान् महावीर चले, वनों में विचरण करते रहे, घोर कष्ट, उपसर्ग और परीषह सहते रहे, किन्तु इतने लम्बे काल में, एक बार भी घबरा कर पीछे न हटे, एक क़दम भी उनका न रुका और न पीछे की ओर पड़ा। वे निरन्तर आगे से आगे बढ़ते चले गये। उन्होंने किसी भी आपत्ति को आपत्ति और कष्ट को कष्ट नहीं समझा। बल्कि यही माना कि यह उपसर्ग मेरी शक्ति को बढ़ाने के लिए ही आये हैं, मेरी परीक्षा लेने के लिए हैं।

वास्तव में संकट मनुष्य की शक्ति की वृद्धि के कारण होते हैं। कई बार इन्सान दुःखों से व्यथित होकर कहता है, हाय मैं दुःखों से मरा जाता हूं किन्तु यूं नहीं कहता कि इन्सान बना जाता हूं। भगवान् महावीर की महान् जीवनी का गहन अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्हें जो असाधारण शक्ति प्राप्त हुई थी, वे कष्टों के द्वारा ही प्राप्त हुई थी। यही कारण है कि वे स्वतः

आये संकटों को शान्ति के साथ सहन करते थे और जब संकट न आते दिखाई देते तो उन्हें उत्पन्न करके सहन करते थे। इस प्रकार अपनी आत्मा को दुःखों की सान पर घिस कर और उसे तीक्ष्ण बना कर नूतन शक्ति प्राप्त करते थे। उन्होंने यही समझा कि यह सब मेरी शक्ति को बढ़ाने के लिए ही आये हैं, मेरी परीक्षा ले रहे हैं और मुझे परीक्षा देनी ही चाहिए, हताश नहीं होना चाहिए। इस प्रकार वे उस परीक्षा में पूर्ण सफल हुए। उर्दू का एक शायर कहता है :—

खौफ़े कामयाबी है तक, कामयाबी है मुहाल,
मुश्किलें बंध गईं, हिम्मत सां हो गई।

भद्र पुरुषो ! उर्दू के इस शायर ने बड़े ही सुन्दर ढंग से एक रूपक कार्य करने वालों के सामने रक्खा है। उन्हें उत्साहित करने के लिए उसने कितनी उत्कट प्रेरणा दी है। वह कहता है— ऐ मनुष्य ! ऐ कार्य साधक ! ओ अपनी राह के पथिक ! जब तक तेरे दिल में यह खौफ़ है कि मुझे कामयाबी मिलेगी या नहीं और जब तक तेरे हृदय में यह संशय बना हुआ है, तो समझ ले कि तुझे सफलता मिलने वाली नहीं है। यह एक निश्चित तथ्य है। सफलता कब मिलती है ? जब तू कटिबद्ध हो जायेगा, कमर-बस्ता हो जायेगा और तू समझ लेगा कि मैं पुरुष हूं, पुरुषार्थी हूं, उद्योगी हूं और मुझमें कठिन से कठिन साधना करके सफलता पाने की क्षमता है। मैं कोई चीनी (शक्कर) का बना खिलौना नहीं हूं कि गल जाऊंगा। मोम का बना हुआ नहीं हूं कि दुःख की जरा-सी आंच लगते ही पिघल जाऊंगा। मैं चैतन्य का धारक हूं, फौलाद का बना हूं और मेरे अन्दर अनन्त, असीम और प्रखर

शक्तियां विद्यमान हैं। मैं अजेय शक्तियों का पुंज हूं। उन सोती हुई शक्तियों को अब जगाना होगा, कार्यसाधक बनाना होगा और प्रकाश में लाना होगा।

इस प्रकार जब मनुष्य अपनी शक्तियों को पहचान लेता है, परख लेता है, उनपर पूरा भरोसा कर लेता है, तो उसमें एक ऐसे बल का प्रादुर्भाव होता है, जिसका उसने पहले कभी अनुभव ही नहीं किया था। जो काम उसे कठिन प्रतीत होते थे, जिन बातों को वह अपनी सामर्थ्य से परे समझता था और जो साधना उसे दूर की चीज़ जान पड़ती थी, वही उसके लिए सुसाध्य हो जाती है। जब हिम्मत आ गई, धैर्य उत्पन्न हो गया और अपनी अमोघ शक्ति पर विश्वास हो गया तो समस्त कठिनाइयां आसान हो गईं। जो असाध्य प्रतीत होता था, वह सुसाध्य प्रतीत होने लगा।

आपको मालूम होगा कि जिसे लिखना नहीं आता, वह बड़े आश्चर्य से कहता है—ओहो, कैसे लिखा जाता है? वह समझता है कि लिखना आना बहुत बड़ी बात है। किन्तु जब वह धीरे-धीरे लिखना सीख लेता है तो वही चीज़ उसके लिए सरल हो जाती है।

तो जब तक मनुष्य कार्य को हाथ में नहीं लेता, तब तक उसे कार्य में कठिनता प्रतीत होती है। किन्तु उसी कार्य में जब सफलता मिल गई दीखती है, तो वही कहने लगता है—'अजी, इसमें क्या रक्खा है? यह तो बायें हाथ का खेल है। मगर उसके लिए मामूली तो अब हुआ है, पहले तो वह पहाड़ दिखाई देता था। इसी प्रकार जब तक मनुष्य किसी काम को अपने हाथ में नहीं लेता और उसके लिए कटिबद्ध नहीं होता, तब तक मामूली

काम भी उसे कठिन एवं दुस्साध्य प्रतीत होता है। मगर जब उसे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा हो जाता है और वह समझ जाता है कि मुझ में महान् शक्ति है और मेरे लिए कोई भी काम असाध्य नहीं है, तो वह उस कार्य में भी शीघ्र सफलता प्राप्त कर लेता है। नेपोलियन ने गर्व के साथ कहा था कि इमपौसिबल (असम्भव) शब्द मेरे शब्दकोष में ही नहीं है। उसके इस विश्वास ने उससे आश्चर्यजनक काम करवाये और आज विश्व के प्रधान वीरों में उसकी गणना होती है।

कहने का आशय यह है कि जब तक मनुष्य अपने आत्मदेव को भूला हुआ है, तब तक उसे मामूली-सा कार्य भी अतीव गुरुतर प्रतीत होता है। किन्तु जब वह अपनी पौरुष शक्ति को पहचान लेता है और उसपर निश्चल विश्वास कर लेता है, तब उसके लिए संसार का कोई भी काम असम्भव नहीं रह जाता।

सज्जनो! दुनिया के कार्यों की तो बात ही क्या है, इस आत्मा में मोक्ष तक प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है। अगर यह शक्ति उसमें न होती तो मोक्ष की प्राप्ति भी न होती और फिर मुक्ति के लिए ज्ञानी-जनों के द्वारा किये जाने वाले सब प्रयास निष्फल ही हो जाते। पर एक-दो नहीं, अनन्तानन्त जीव मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं। वे अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी जो सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके थे, समय आने पर और पुरुषार्थ करने पर शीघ्र ही उसे प्राप्त करने में समर्थ हो गये।

तो आत्मा में अनन्त शक्ति है, किन्तु उसकी वह शक्ति दबी हुई है, आच्छादित हो रही है। उर्दू के एक शायर ने बड़ी ऊंची उड़ान लेकर कहा है :—

असल अपनी को गर देखे, तो तू ही खुदा खुदा होवे।
अगर अपना रूप लख, पर से जुदा होवे ॥
तो तेरा मर्तबा ला दुनिया में वा होवे।
वकुल ताकत सुख नजर कुल तुझमें ां होवे ॥

सज्जनो ! शायर कहता है—हे आत्मन् ! यदि तू अपनी असली अवस्था, को देख ले तो तू खुदा ही हो जायेगा। अरे ! महावीर-महावीर की रट क्या लगा रक्खी है। यदि तू अपने स्वरूप को, शक्ति को और आत्मस्वरूप को समझ ले, देख ले, तो तू स्वयं ही खुदा बन सकता है, परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति कर सकता है और त्रिभुवनपूज्य बन सकता है, तब इन्द्र भी तेरी सेवा में उपस्थित होंगे।

भद्र पुरुष ! यदि तू गैरों से जुदा हो जाये तो तेरा मर्तबा सारी दुनिया में आला है और वह प्रकट हो जायेगा। तुझमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख, यह अनन्त चतुष्टय विद्यमान है और यह भाव तेरे अन्दर से ही प्रकट होने वाले हैं।

शास्त्र में दो प्रकार के प्राण मान गय हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राण पुद्गलरूप होते हैं जो कि प्रकृति से, माया से बनने वाले हैं। पुद्गलरूप दस प्राण ये हैं—पांच इद्रियां, मन, वचन, काय, आयु और श्वासोच्छ्वास। ये पुद्गलरूप द्रव्य के प्राण होने से ही जीव नाटक कर रहा है, यह जीव नाच रहा है, खेल-कूद कर रहा है, किन्तु याद रखना, ये तेरे निज के प्राण नहीं हैं। तेरे निज के होते तो तझ से यह पृथक् न होते। फिर तो किसी को न मरना पड़ता और न किसी को रोना पड़ता !

सज्जनो ! तुम्हारे यहां रोने का रिवाज ही कुछ और तरह का है। कोई वृद्ध पुरुष मर जाता है तो सब मिल कर उस मृतक का मखौल उड़ाते हैं और रोते हैं तो कहते हैं—'चावियां कठे छोड़ गया हो ! नाना छोटा है हो !

अरे तुम रोते हो कि मरने वाले की हंसी कर रहे हो ? अभी तक उस मृतक वृद्ध का छोकरा छोटा ही रह गया क्या ? जब कि उस छोकरे के छोकरे भी मौजूद हैं। पंजाब में तो ऐसा अलार्म नहीं दिया जाता।

भद्र पुरुषो ! मैं आप से कहने जा रहा था कि यह द्रव्य प्राण आते हैं और जाते हैं, इनका संयोग और वियोग होता रहता है, किन्तु भाव प्राण, जो आत्मा की निधि और सम्पत्ति हैं, स्थायी रहते हैं, अमर हैं। इनपर काल का जोर नहीं चलता। आत्मा की दुनिया में काल प्रवेश नहीं कर सकता। भाव प्राण आत्मा की निज की वस्तु है। और पराई तो पराई ही है, कभी भी छीनी जा सकती है, दसों प्राण पराये हैं, आत्मा के अपने नहीं है। इसी कारण जीव मरता है। उसके उन प्राणों का वियोग हो जाता है। भाव प्राण आत्मा के निजी प्राण हैं। उनका कभी वियोग नहीं होता। जीव कभी भाव प्राणों से मरता नहीं। इन्हीं पर जीव की हस्ती टिकी हुई है। जीवित अवस्था में भी और मृतक अवस्था में भी वे विद्यमान रहते हैं।

हम द्रव्य प्राणों के मिलने को बड़ा भारी वरदान मानते हैं, बड़ा गौरव समझते हैं, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह आत्मा के लिए बन्धन रूप हैं। जब द्रव्य प्राण की परिणतियां पूरी तरह नष्ट हो जायेंगी, तभी आत्मा का निर्वाण होगा, मुक्ति होगी, यह

निश्चित और निर्विवाद तथ्य है। यह द्रव्य प्राण आत्मा को बंधनों से जकड़ते हैं और मोक्ष में नहीं जाने देते। यह पौद्गलिक प्राण आत्मा के लिए वरदान नहीं, बल्कि अभिशाप हैं। इन्होंने ही आत्मा के असली स्वरूप की प्राप्ति में रुकावट डाल रक्खी है। ज्ञान और दर्शन हो जाने पर भी जब तक द्रव्य प्राण विद्यमान रहते हैं, तब तक तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले केवल ज्ञानी जीव भी मोक्ष में नहीं जा सकते। जब तक आयु कर्म मौजूद है, दसों प्राण मौजूद हैं, जब तक कर्म रहते हैं, तब तक प्राण भी रहते हैं और जब कर्म नष्ट हो जाते हैं तो द्रव्य प्राण भी नष्ट हो जाते हैं। किन्तु भावप्राण विद्यमान रहते हैं और अपने विशुद्ध रूप में रहते हैं।

जिन्हें सच्चे, वास्तविक प्राण कहना चाहिए, वे आत्मा पर टिके हैं। अनन्त ज्ञानशक्ति, अनन्त दर्शनशक्ति, अनन्त आत्मिक सुख और अनन्त आत्मिक वीर्य शक्ति ही भाव प्राण हैं। जब तक आत्मा है, तब तक इनका भी अस्तित्व है और इनके होने से ही आत्मा का टिकाव है। जो आत्माएं मोक्ष में चली गईं, उनके द्रव्य प्राण नष्ट हो गये। किन्तु भाव प्राण उनके विद्यमान हैं। सिद्ध आत्माएं जो हैं वे मोक्ष रूप हैं; किन्तु हम पुद्गलों के वशीभूत हो रहे हैं।

सज्जनो ! आपमें से बहुतों को अभी तक जीवादि तत्त्वों की भी पूरी जानकारी नहीं है। शास्त्र में बतलाया है कि जो जीव को नहीं जानता है, अजीव को नहीं जानता है और जीवाजीव को भी नहीं जानता है, वह मोक्ष को कैसे जान सकता है ?

कहा जा सकता है कि वस्तुएं दो ही हैं—जीव और अजीव, जड़ और चेतन। फिर शास्त्र में जीव, अजीव और जीवाजीव; यह तीन पद किस प्रयोजन से आये हैं ? जैसे कि कहा है :—

जो जीवे विन जाणेइ, अजीवे विन याणइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कथं सो नाहीइ संयमं ॥

—दश० अ. ४. गा. १२

पर इस गाथा का आशय ऊपर आ चुका है। यह दशवैकालिक सूत्र की गाथा है। यह सूत्र साधु-साध्वियों को अध्ययन काल में सबसे पहले पढ़ाया जाता है। जिसने इस सूत्र को समझ लिया, जान लो कि बहुत कुछ समझ लिया। इस सूत्र में जीव-अजीव का बोध है, साधू के आचार-गोचर का बोध है, साधु भाषा का बोध है। विस्तारपूर्वक आहार-ग्रहण संबंधी शुद्धि का विधान है। गुरु का विनय किस प्रकार करना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण है और तपस्या आदि समाधियों का वर्णन है। जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह सुविनीत शिष्य कहलाता है और जो आज्ञा का पालन नहीं करता, वह अविनीत है। इन दोनों को क्या क्या फल मिलता है, आदि-आदि बातों पर भी इस सूत्र में प्रकाश डाला गया है। इस सूत्र के अन्त में बतलाया गया है कि जिस उमंग, उत्साह और वैराग्य से तूने कुटुम्ब-परिवार का परित्याग किया है, उस उमंग, उत्साह और वैराग्य को तू स्थायी रखना। उसमें फर्क मत आने देना। सिंह की तरह ही दीक्षा लेना और सिंह की तरह ही उसका पालन करना।

शास्त्र में चार प्रकार के पुरुष वतलाये गये हैं :—

(१) कोई-कोई पुरुष सिंह की तरह दीक्षा लेते हैं और कष्ट आने पर सियार वन कर भाग जाते हैं।

(२) कोई-कोई सियार की तरह डरते-डरते दीक्षा लेते हैं। सोचते हैं, दीक्षा लेना मेरु गिरि का भार उठाना है, समुद्र को भुजाओं से पार करना है और लोहे के चने चबाना है। यह संयम-मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। मैं इसपर चल सकूंगा या नहीं ? मैं संयम को निभा सकूंगा अथवा नहीं ? मगर जब दीक्षा धारण कर लेते हैं और गुरु की कृपा हो जाती है तो फिर सिंह की तरह संयम का पालन करते हैं।

गुरु की कृपा की महिमा अवर्णनीय है। राजा की कृपा हो जाय तो जागीर मिल जाती है, सेठ की कृपा से धन-दौलत प्राप्त हो सकती है, किन्तु गुरु की कृपा हो जाय तो मोक्ष की कुंजी मिल जाती है और बेड़ा पार हो जाता है। गुरु की कृपा प्राप्त कर अनन्त जीव निहाल हो गये हैं। तो कोई-कोई साधक डरते-डरते संयम अंगीकार करते हैं, पर गुरु कृपा से उनकी वीरता वढ़ती जाती है।

(३) तीसरी तरह के पुरुष वे हैं जो शूरवीर शेर की तरह उठते हैं, संयम धारण करते हैं और शेर की तरह ही जीवन पर्यन्त उसका पालन करते हैं। वे निरन्तर पराक्रम करते रहते हैं और कभी निर्वलता नहीं आने देते।

(४) चौथे प्रकार के पुरुष वे हैं, जो डरते-डरते ही त्याग के क्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं और डरते-डरते ही खतम हो जाते हैं।

तो यदि दशवैकालिक सूत्र ज्ञानी गुरु से ठीक रूप से पढ़ लिया जाय तो आचार आदि के विषय में धुरन्धर ज्ञानी बना जा सकता है। हां, तो उसी दशवैकालिक सूत्र में बतलाया है कि जो जीव को, अजीव को और जीवाजीव को नहीं जानता, वह संयम को भी नहीं जान सकता।

अब प्रश्न यह है कि यह तीन राशियाँ कहाँ से आ गईं ? राशियां तो जीव-अजीव रूप दो ही हैं; फिर यह तीसरी जीवाजीव राशि क्यों बतलाई गई ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मूल रंग यद्यपि पांच ही हैं, किन्तु आज आपके सामने कितने रंग विद्यमान हैं ? पांच से भी ज्यादा आप देखते हैं न ? कहिये, वे कहां से आगये ? वे सभी रंग, जो पांच से अतिरिक्त दिखाई देते हैं, अनेक मूल रंगों के सम्मिश्रण से ही बने हैं। अतएव वे अनेक होने पर भी पांच से अतिरिक्त नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार मूल राशियां तो दो ही हैं, परन्तु इन दोनों के सम्मिलन से तीसरी जीवाजीव राशि दृष्टिगोचर है। मूलतः वह दोनों से भिन्न नहीं है, तथापि तीसरी कहलाती है।

भाइयो ! यह मत कहना कि महाराज ने तीन राशियां कायम कर दीं; महाराज तो निह्नव हैं; आप किसी को भी सर्टिफिकेट देते देर नहीं करते। मगर आप मेरे दोष भले निकालें, किन्तु भगवान् की वाणी में हेरफेर न करें। मेरा नुक्स निकालोगे तो मेरी हानि नहीं होगी। संभव है कुछ मुझे लाभ हो जाय। मेरी निन्दा करोगे तो भी मेरा कुछ बिगाड़ न होगा ! अलबत्ता निन्दा करने वालों की ही हानि है। हमें तो चिन्ता है तो अपने

ज्ञान-चरित्र की ही चिन्ता है। इनका संरक्षण होता रहे तो फिर निन्दकों की कोई चिन्ता नहीं। हम जानते हैं कि यह संसार है। इसमें कई प्रकार की खोपड़ियां हैं। सबकी मति एक-सी नहीं होती। सबकी रुचि भी एक-सी नहीं होती। आचार और विचार भी एक-सा नहीं होता। कहा है :—

सरीखे नर नहीं, सब सरीख नहिं नार।
कोई खोटा कोई भला, यूं चला जाय संसार॥

यह संसार समुद्र है। इसमें सीपें भी हैं, कच्छ-मच्छ भी भरे हैं और मोती भी हैं। यहां सब प्रकार के मनुष्य हैं। इस बात में कोई आश्चर्य भी नहीं है। मनुष्य चाहे कि सबसे प्रशंसा प्राप्त कर ली जाय तो यह संभव नहीं। सबको प्रसन्न करने की चेष्टा भी सफल नहीं हो सकती। अतएव उसके लिए एक ही मार्ग है कि वह अपने सत्य में मस्त रहे। अपनी शुद्ध बुद्धि में जो प्रशस्त प्रतीत होता हो, मंगलमय जान पड़ता हो और नीति-धर्म एवं लोकमर्यादा से विरुद्ध न हो, उसी पथ का अनुसरण करता जाय। ऐसा करने में जो भी निन्दा या प्रशंसा मिले, उसे समान भाव से ग्रहण करता रहे।

हां, तो मूल विषय पर आ जायें। राशियां दो हैं, परन्तु पूर्वोक्त गाथा में तीन पद प्रयुक्त किये गये हैं। इस संबंध में कुछ और स्पष्टीकरण कर देना उपयुक्त होगा।

यहां जीव शब्द से उस वस्तु का ग्रहण किया गया है जो पुदगल द्रव्य के संसर्ग से सर्वथा रहित है और जो केवल जीव भाव में है। वह सिद्ध भगवान् हैं। यदि हमें सिद्धों का ज्ञान न हो और हम यह न जानें कि अशरीरी भी आत्माएं होती हैं तो

हमें मोक्ष की करनी करने का भाव ही नहीं होता। जिस लड़के को यह पता नहीं कि बी० ए०, एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने से क्या लाभ होता है, वह उच्च शिक्षण का प्रयत्न ही नहीं करेगा। अतएव यहां जीव शब्द से अशरीर आत्मा का ग्रहण करना चाहिये।

अजीव का अर्थ है---धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गल और काल। यह पांच अजीव द्रव्य हैं। जिसे अजीव का ज्ञान नहीं है, वह भी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। जिसे यही पता नहीं कि मैं बद्ध हूं, जकड़ा हूं, वह छुटकारा, मोक्ष पाने का प्रयत्न कैसे कर सकता है ? जब बंधन का ज्ञान होता है, तभी उससे छुटकारा पाने की इच्छा की जाती है। जब बन्धन का ज्ञान होता है तो यह भी ज्ञान होता है कि बन्धन का कारण जीव से भिन्न पुद्गलरूप अजीव ही है। अजीव ने ही जीव को बांध रक्खा है। अतएव जो पुद्गल, जीव से भिन्न है, वह यहां अजीव कहा गया है।

अब जरा विचार कीजिये कि हम क्या हैं ? हम न तो सिद्धों के समान शुद्ध आत्मा हैं और न वस्त्र, पात्र आदि की तरह शुद्ध अजीव हैं। हम दोनों के संयोग रूप हैं। हमारा आत्मा जीव है और शरीर, प्राण आदि अजीव हैं। हम जो कुछ भी आंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह सब अजीव हैं और जिसने इन सबको धारण कर रक्खा है, जिसकी सत्ता से समस्त इन्द्रियां अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति कर रहीं हैं, वह जीव है, आत्मा है। इस प्रकार जीव और अजीव—दोनों मिले हुए हैं। जो पुद्गल भाव है, वह अजीव का अंश है और जो आत्मा है, वह जीव भाव है।

दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि गेहूं गेहूं है और चना चना है। किन्तु जब दोनों मिल जाते हैं तो उनकी बेजड़ संज्ञा हो जाती है। चीजें तो वहां भी मूल में दो ही हैं, फिर यह बेजड़ कहां से आ गया ? बेजड़ का जो व्यवहार होता है, वह सर्वथा बे-जड़ अर्थात् निराधार नहीं है, क्योंकि बेजड़ का भाव अकेले गेहूं और अकेले चने से अलग होता है। उसका स्वाद भी पृथक् होता है । तो यद्यपि मूल में बेजड़ की कोई पृथक् इकाई नहीं है, तथापि वह संयोगजन्य तीसरी वस्तु कहलाता है; उसी प्रकार जीव और अजीव अपनी-अपनी इकाई में भिन्न-भिन्न हैं। जीवाजीव की पृथक् इकाई नहीं है, फिर भी दोनों के मेल से इस तीसरी राशि की संज्ञा सार्थक है। दोनों के सम्मिश्रण से यह तीसरी वस्तु बनी है।

दूध में नकली दूध और घी में नकली घी मिलाने से जैसे मजा नहीं रहता, इसी प्रकार आत्मा को आनन्द मिलता है तो शुद्ध भाव से मिलता है । परन्तु दुर्भाग्य से आत्मा निखालिस दशा में नहीं—मिश्रभाव में परिणत हो रहा है। इस सम्मिश्रण को समाप्त कर देना और आत्मा को विशुद्ध दशा में ले आना प्रत्येक के लिए शक्य नहीं है। किन्तु इस दुश्शक्य अनुष्ठान में भी सफलता प्राप्त करना इस जीवन का चरम पुरुषार्थ है। यही सर्वोपरि सिद्धि है और इसी सिद्धि में आत्मा की कृतार्थता है। उर्दू के एक शायर ने क्या अच्छा कहा है:—

दुरंगी छोड़ के एक रंग हो जा।
या मोम हो जा या संग हो जा।

इधर भी और उधर भी—दोनों तरफ मत रहो। अभी तक तुम्हारा मार्ग एक नहीं है । तुम एक ही तीर से दो शिकार

खेलना चाहते हो। किन्तु जो दुतरफा चलता है, वह कहीं का नहीं रहता और किसी को भी वह खुश नहीं कर सकता।

सज्जनो ! इस मिश्रपन को छोड़ो। हमारी साधुपन, श्रावकपन, स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि-आदि की जो भी साधनाएं हैं, वे इस मिश्रपन को छोड़ने के लिए ही हैं, अर्थात् आत्मा को पुद्गल के संसर्ग से पृथक् करके शुद्ध स्वरूप में लाने के लिए हैं। मगर अधिकांश लोग इस सचाई को भूल जाते हैं और मिश्रपन को और अधिक बढ़ावा देते हैं। यही नहीं, यदि कोई उसे पृथक् करना चाहता है तो बीच में हम चौधरी बन जाते हैं। जान नहीं, पहचान नहीं, फिर भी माल खाने के लिए कोई न कोई रिश्ता खोज निकालते हैं। मगर इस तरह चौधरी नहीं बना जाता। आखिर हमारी कलई खुल ही जाती है।

एक तेली था। वह तेल पीलने और बेचने का व्यवसाय करता था। एक बार श्राद्ध के दिन आये। उस समय लोग अपने मृतक पितरों को, उनकी मरणतिथि के दिन उनके लिए तर्पण करते हैं। यानी उनके लिए यहां से पार्सल करके भेजते हैं, क्योंकि शायद उनकी सन्तान के पास उनके पते आ जाते होंगे ! और उस दिन प्रायः भारतीयों की जन्मघूटी खीर बनाई जाती है। साथ ही मालपूआ और तरह-तरह की मिठाइयां, शाक-सब्जी और नमकीन चीजें भी तैयार की जाती हैं।

श्राद्ध के दिनों में ब्राह्मण दुर्लभ हो जाते हैं। उनका बाजार तेज हो जाता है। ब्राह्मणों को भर पेट भोजन खिला कर दक्षिणा भी दी जाती है।

तेली ने सोचा, इस समय मेरा रोजगार ठंडा है तो थोड़े दिनों के लिए मैं भी क्यों न पंडित बन जाऊं ? उसने गुरुदत्त

और रविदत्त आदि पण्डितों सरीखी लम्बी धोती पहन ली, जनेऊ धारण कर लिया और छापा-तिलक लगाकर एक पोथी हाथ में ले ली। लोग उसे भी जिमाने ले जाने लगे। दो-चार दिन तो उसकी दाल गल गई, पर एक दिन किसी ने पूछ लिया, आप कौन हैं ?

तेली बोला। मैं ब्राह्मण पण्डित हूं।

सज्जनो ! जो झूठा होता है, वह बोलने में जोर बहुत लगाता है। पूछने वाला होशियार था। उसके उत्तर से वह भाँप गया कि यह कोई न कोई धूर्त है, बहुरूपिया है। असली ब्राह्मण नहीं मालूम होता। उसने पुनः प्रश्न किया—पण्डित जी आप कौन-से ब्राह्मण हैं ?

यह प्रश्न सुनते ही उसके पैरों तले की ज़मीन खिसकने लगी। जैसे चोर और झूठा आदमी घबरा जाता है, वह भी घबराया।

कोई-कोई लोग दिखावटी बातों से अपनी असलियत छिपाने की कोशिश करते हैं, परन्तु वह अन्ततः सामने आ ही जाती है। उस समय उन ठगों का भंडा फट जाता है, पर्दा फाश हो जाता है।

तो ऐसा प्रश्न करने पर उसके मुंह से निकल पड़ा, या अल्लाह! क्या ब्राह्मण भी कई तरह के होते हैं ?

अल्लाह का नाम सुनते ही प्रश्नकर्त्ता समझ गया कि यह ब्राह्मण नहीं, मुसलमान है।

तेली भी समझ गया कि मेरी कलई खुल गई है। अब यहाँ ठहरने में कुशल नहीं। वह वहाँ से नौ दो ग्यारह होकर अपने घर भाग आया।

तो मैं कह रहा था कि सब धार्मिक साधनाएँ मिश्रपन से अलग होने के लिए हैं। जैसे दूध और पानी तथा खल और तेल युक्ति से जुदा हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा को जुदा करने के लिए भी युक्ति की आवश्यकता है। युक्ति विना मुक्ति नहीं होती। हमारे जितने भी प्रयास हैं, वे सब प्रमाणित करते हैं कि हम किसी भी तरह पुद्‌गलों से अलग होकर अपने असली स्वरूप में विशुद्ध आत्मा के रूप में आना चाहते हैं। किन्तु इतनी धर्म-क्रियाएँ करते हुए भी किसी-किसी मनुष्य में श्रद्धा नहीं है। वह सदैव प्रायः शंकाशील रहता है। किन्तु शास्त्रों का कथन है कि जिसके अन्तःकरण में शंका का साम्राज्य बना रहता है, वह अंततः पथ से भ्रष्ट हो जाता है। अतएव किसी भी धर्म-साधना को प्रारंभ करने से पहले मनुष्य के मन में भगवान् के वचनों के प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक है। जो सम्यग्दृष्टि होता है, उसका एक ही जीवनसूत्र होता है, एक ही घोषणा होती है, एक ही विचारणा और एक ही पुरजोर उच्चारण होता है और होता है एक ही पक्का विश्वास और वह यह है कि :—

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

जो तत्त्व राग-द्वेष आदि समस्त विकारों के विजेता एवं केवल-ज्ञान और केवलदर्शन के धनी जितेन्द्रदेव ने प्ररूपण किया है, वही सत्य है और उसमें शंका के लिए किंचित् भी अवकाश नहीं है।

जिन भगवान् चाहे सामान्य केवली हों अथवा तीर्थंकर हों, उनके केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर सिर्फ अति-शयों में है, आत्मिक विभूति में नहीं। एक राजा है और दूसरा

राजा का सहोदर भाई है। दोनों की सम्मति में अन्तर नहीं होता, सिर्फ अधिकार में अन्तर होता है। इसी प्रकार सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली के केवलज्ञान रूपी धन में कुछ अन्तर नहीं । पुण्य के प्रकर्ष के कारण वाह्य अतिशय में अन्तर पड़ता है। इसी कारण तीर्थंकर वड़े माने जाते हैं, यद्यपि वे पुण्य-जनित अतिशय निर्वाण प्राप्त करने पर साथ नहीं जाते। साथ जाने वाले तो केवलज्ञान और केवलदर्शन ही हैं, जो आन्तरिक-आध्यात्मिक विभूति हैं।

उन केवलियों में जाति या वर्ण की भी कोई छाप नहीं होती कि अमुक जाति का ही केवली हो सकता है और अमुक जाती का नहीं। कहा है :—

> जात न पूछे साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
> **मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान ॥**

सज्जनो ! समरभूमि में शत्रु के विरुद्ध संग्राम मचाने वाली और विजय प्रदान करने वाली है तो वह है तलवार, न कि म्यान। म्यान का वहाँ कोई मोल नहीं, कुछ काम नहीं। इसी प्रकार मोक्ष की साधना में भी दस नम्बर या वीस नम्बर (दसता या वीसा) से काम नहीं चलता। उस साधना में कोई भी जाति या कोई भी वर्ग रुकावट पैदा नहीं कर सकता । मोक्ष के पथ पर चलने वाला कोई भी मुमुक्ष, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, मोक्ष प्राप्त कर लेता है । हाँ, शर्त है तो यही कि उसके चित्त में वीतराग की वाणी के प्रति पूर्ण सुदृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। जिसका मन शंकाग्रस्त है, वह निर्वाण का अधिकारी नहीं हो सकता।

इस विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक उदाहरण लीजिये—किसी नगर में एक सेठ रहता था, मगर उसके पास धन नहीं था। दैवयोग से उसे एक सिद्ध पुरुष मिल गये। सेठ ने उनकी हार्दिक सेवा की और वे सेठ पर मेहरबान हो गये। उन्होंने उसे एक मंत्र दिया और कहा—शरद्पूर्णिमा की रात्रि में, नगर से बाहर, निर्जन स्थान में, किसी वृक्ष के नीचे भट्ठी जलाना। भट्ठी पर तेल से भरी कढ़ाई रख देना। ऊस वृक्ष की शाखा से कच्चे सूत का छींका बाँधना। छींका ठीक कढ़ाई के उपर हो। फिर तुम निर्भय होकर, दृढ़ संकल्प के साथ उस छींके में बैठ कर इस मंत्र का जाप करना और छींके का एक-एक तार काटते जाना। इस विधि से मंत्र सिद्ध कर लिया तो तुम्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायेगी। फिर जहां जी चाहे, स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करना। अगर मंत्र के संबंध में अथवा कच्चे सूत के छींके के विषय में शंका रक्खेगा तो तेल की कढ़ाई में गिर कर जल मरेगा।

सेठ ने वह मन्त्र और मंत्रविधि कागज पर लिख लिया और प्रसन्न होकर घर आ गया। उसे प्रसन्नता इस बात की थी कि मंत्र सिद्ध हो जाने से रेल, हवाई जहाज़, गाड़ी आदि का किराया नहीं खर्च करना पड़ेगा और जब जहां जाना चाहूंगा, तत्काल आकाश में उड़कर पहुंच जाऊंगा। इस प्रकार विचार करते-करतें शरद्पूर्णिमा का दिन आ पहुंचा। वह सोचने लगा कि आज मंत्र की सिद्धि करनी है।

सज्जनो! वह सेठ मंत्र सिद्ध करने के लिए छटपटा रहा है, किन्तु शंका रूपीं राक्षसी उसके पीछे पड़ गई। वह उसे मंत्र न सिद्ध करने के लिए बाध्य करने लगी। उसके चित्त में रह-रह कर

आशंका उठने लगी कि कच्चे सूत के छींके में बैठा और कहीं सूत टूट गया तो सीधा कड़ाई के उबलते हुए तेल में जा गिरूंगा। ऐसा हुआ तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। इस आशंका ही आशंका में पड़े रहने के कारण वह मंत्र सिद्ध न कर सका। अन्त में वह यों ही मर गया। किन्तु उसने एक बुद्धिमत्ता की और वह यह कि मंत्र और उसे सिद्ध करने की विधि कागज़ पर लिख कर वह तिजोरी में रख गया। उसने सोचा—मैं कायरता वश इस मंत्र को सिद्ध न कर सका, किन्तु संभव है मेरा लड़का बड़ा होकर इसे सिद्ध करले।

सेठ का एक ही लड़का था—जुआरी, लम्पट और दुराचारी। उसने अपने पिता के बचे-खुचे धन को स्वाहा कर दिया था और पेट भर खाने को भी मोहताज हो गया था। आप जानते हैं कि ऐसे दुर्व्यसनी और उड़ाऊ लोगों को बाजार में उधार मिलना भी कठिन हो जाता है। ऐसे नाज़ुक समय में नाते-रिश्तेदार भी मुंह मोड़ने लगते हैं।

लड़के ने तिजोरी टटोलना शुरू किया कि इधर-उधर रक्खा हुआ कुछ मिल जाय तो कुछ दिन आराम से कटें। पर उसे उस कागज़ के सिवाय वहां कुछ नहीं मिला। उसने कागज़ लेकर पढ़ना आरम्भ किया तो पता चला कि यह मंत्र है और इसे सिद्ध कर लेने पर मैं आकाश में उड़ सकता हूं और मनचाही सैर कर सकता हूं। उसके हृदय में उत्साह था, अतः सब साम । लेकर वह बगीचे में एक वृक्ष के नीचे गया। सूत का छींका भी डाल से लटका दिया। अब वह हिम्मत करके वृक्ष पर चढ़ा, किन्तु नीचे खौलता हुआ तेल देख कर उसके मन में भय का संचार हो गया। वह भयभीत होकर नीचे उतर आया। इस प्रकार कई बार वह

चढ़ा और उतरा। मंत्रसिद्धि का प्रलोभन उसे वृक्ष पर चढ़ाता था, परन्तु प्राणों का भय नीचे उतार देता था। इस प्रकार दुविधा में पड़ा हुआ सेठ का लड़का कई बार चढ़ा और कई बार उतर गया।

सज्जनो ! आप अपने अनुभव से जानते हैं कि कोई भी प्राणी, किसी भी स्थिति में क्यों न हो, मरना नहीं चाहता। अखिल विश्व के विराट वैभव की तुलना में भी प्राणों का मूल्य अधिक समझा जाता है। यही कारण था कि सेठ का वह लड़का प्राणभय के कारण मंत्र साधने में समर्थ नहीं हो रहा था।

इधर सेठ का लड़का वृक्ष पर चढ़ने और उतरने का कार्य कर रहा था और उधर शहर में एक जौहरी के यहां चोरी हो गई। चोर बहुमूल्य रत्नों का एक डिब्बा चुरा कर भाग गया। लोगों ने उसका पीछा किया। वह चोर भागता-भागता अचानक उसी जगह जा पहुंचा, जहां सेठ का लड़का मंत्र साधने का उपक्रम कर रहा था। लोगों ने उस बगीचे को घेर लिया और सोचा—अब भाग कर कहां जायेगा ?

चोर से भी दुनिया बहुत डरती है। मैंने लोहारा सराय नामक यू. पी. के एक ग्राम में चौमासा किया था। वहां रात्रि को किसी वनिये के घर में एक चोर घुस गया। घर वाला चिल्लाया—पकड़ो, पकड़ो, चोर आया ! आसपास के घर वालों ने यह आवाज सुनी तो वे घर में घुसे-घुसे ही चिल्लाने लगे कि—आये, आये, पकड़ो, पकड़ो ! किन्तु एक भी भला आदमी साहस करके घर से बाहर न निकला। प्रत्येक को यही भय था कि बाहर निकले नहीं कि खोपड़ी टूटी नहीं। दूसरे दिन जब घर वाले

ने कहा कि मेरे चिल्लाने पर भी कोई न आया तो पड़ोसी कहने लगे—आवाज़ तो दे दी थी। हल्ला भी मचा दिया था। मगर मरने के भय से घर से बाहर निकला नहीं गया !

हां, तो वह चोर, सेठ के लड़के के पास आया। उसने पूछा—भैया, यह क्या कर रहे हो ?

लड़के ने कहा—मंत्र साधना चाहता हूं, मगर कढ़ाई में गिर जाने का डर लगता है। मंत्र मेरे पिता जी संभाल कर रख गये थे, किन्तु सिद्ध करने की हिम्मत नहीं पड़ रही है।

चोर ने कहा—तुम यह जवाहरात का डिब्बा लो और मंत्र का कागज मुझे दे दो।

चोर ने विचार किया—पिता अपने पुत्र के लिए जो मार्गदर्शन करता है, वह हितकर ही होता है। अतएव यह मंत्र सच्चा ही होना चाहिए। मगर मुझे तो यों भी मरना पड़ेगा। तो इस विद्या की सिद्धि के लिए ही क्यों न मरूं ? कदाचित् विद्या सिद्ध हो गई तो प्राण भी बच जायेंगे और आगे की जिन्दगी भी मजेदार हो जायेगी। परन्तु मरने की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि पिता पुत्र का अशुभचिन्तक हो ही नहीं सकता। कोई पिता अपने पुत्र का मरण नहीं चाहता।

चोर ने डिब्बा देकर मंत्र का कागज़ ले लिया और पूर्ण विश्वास के साथ, निश्शंक होकर वृक्ष पर चढ़ गया तथा छींके में बैठ कर मंत्र का जाप करने लगा। एक बार मंत्र का जाप करता है और सूत का एक तार काट देता है। जब आखिरी तार रह गया और चोर ने मंत्र का जाप करके उसे भी काटा तो विद्या सिद्ध हो गई। उसी समय वह विद्या-बल से आकाश में उड़ गया।

सेठ का लड़का देखता ही रह गया। चोर का उड़ना देखकर उसे पश्चात्ताप तो हुआ, परन्तु जवाहरात का डिब्बा मिल जाने के कारण वह संतोष मान सका। वह सोचने लगा--चलो अच्छा ही हुआ। मरने का खतरा भी न उठाना पड़ा और जवाहरात भी हाथ लग गये।

उधर चोर की तलाश में खड़े लोगों ने सोचा---बहुत देर हो चुकी है और चोर निकल नहीं रहा है। देखना चाहिए कि वह कहां छिप रहा है? यह सोच कर वे उसी तरफ बढ़े जिधर सेठ का लड़का डिब्बा लिये खड़ा था। लोगों ने उसे पकड़ लिया। डिब्बा छीन लिया और उसकी खूब मरम्मत की। लड़का रोने चिल्लाने लगा और अपनी कथा सुनाने लगा। परन्तु वहां सुनने वाला कौन था? आखिर वह लड़का जेलखाने में डाल दिया गया। उसने अपनी सफाई में सब कुछ कहा, परन्तु चोरी के माल के साथ पकड़े गये व्यक्ति को कौन निर्दोष समझता? किसी ने उसकी बात पर भरोसा न किया। उसे कारागार से मुक्त कराने वाला कोई न मिला।

भद्र पुरुषो! यह तो एक दृष्टान्त है पामर प्राणियों को, सरल तरीके से, कोई गंभीर विषय समझाने के लिए। इसका आशय यह है कि जैसे सिद्ध पुरुष ने सेठ को विद्या दी थी, उसी प्रकार गुरु महाराज ने आध्यात्मिक विद्या दी है और कहा है कि भगवान् के वचनों में शंका मत करना। निश्शंक भाव से गुरु के वचनों पर विश्वास करोगे तो तुम्हें ऊर्ध्वगामिनी विद्या प्राप्त होगी, अर्थात् मुक्ति प्राप्त हो जायेगी।

पर साधारण जीव सेठ की तरह और उसके लड़के की तरह उस कथन पर भरोसा नहीं करते। जो भरोसा करता है, वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

सज्जनो ! अशंक भाव से भगवान् के वचनों की आराधना करके अनन्त जीव मोक्ष में चले गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में भी अनन्त जीव मोक्ष में जायेंगे। धर्मश्रद्धा से बड़े-बड़े पापियों के बेड़े पार हो गये।

मगर आजकल के भक्तों की मनोभावना निराली ही है। वे सामायिक या पौषधादि में बैठ कर भी क्या कहते हैं :—

राज रिद्धी रमणी मिले, लक्ष्मी को नहिं पार।

अरे ! क्या इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए धर्म की आराधना करते हो ? यह पदार्थ तो तुम्हें अनन्त बार प्राप्त हो चुके हैं। इनसे आत्मा का कल्याण नहीं, अकल्याण होता है; उत्थान नहीं, पतन होता है; सुख नहीं, दुःख मिलता है। इन्हीं पर-पदार्थों की ममता तो संसार के समस्त अनर्थों की जड़ है। उस जड़ को उखाड़ने के लिए ही धर्म की साधना की जाती है और तुम उलटे धर्मसाधना करके इन्हीं पदार्थों की कामना करते हो। भाइयो ! कैसे तुम्हारी आत्मा का उत्थान होगा ? किस प्रकार तुम दुःख से मुक्त होओगे ?

इसीलिए मैं बार-बार कहता हूं कि अपनी दृष्टि शुद्ध बनाओ। दृष्टि शुद्ध हुए बिना गाड़ी अगाड़ी चलने वाली नहीं है। अगर तुमने गुरु महाराज द्वारा बतलाये हुए महामंत्र की विधिपूर्वक सिद्धि कर ली तो तुम्हें ऊर्ध्वगमन की सिद्धि प्राप्त हो जायेगी। बस, सबसे बड़ी शर्त यही है कि उसे श्रद्धापूर्वक जपते रहना। अगर श्रद्धाभाव न रहा तो कोरे के कोरे रह जाओगे, क्योंकि साधना के लिए कष्ट भी सहन करोगे और शंका रहने से सिद्धि भी प्राप्त नहीं होगी। इस प्रकार न इधर के रहोगे और न उधर

के रहोगे। ऐसी स्थिति में सेठ के लड़के के समान संसार रूपी कारागार की यातनाएं सहन करनी पड़ेंगी। अतएव सुदृढ़ श्रद्धा-शील होकर कर्मों के तारों को काटते जाओ। नीचे तपस्या की भट्ठी जलाकर उसपर विवेक की कढ़ाई चढ़ा दो और करणी का तेल उसमें डाल दो। उग्र करणी करते जाओ तो एक दिन कर्मों के समस्त तार कटते ही ऊर्ध्वगमन की सिद्धि प्राप्त हो जायेगी।

सज्जनो! आकाश में उड़ने वाला तो फिर भी कभी गिर सकता है और नीचे आ जाता है, बल्कि उसे नीचे आना ही पड़ता है, किन्तु कर्मों के तार कटने पर जो ऊर्ध्वगमन-सिद्धि प्राप्त होती है, उससे फिर कभी अधःपतन की संभावना ही नहीं रहती। फिर कभी भवप्रपंच में पड़ने का प्रसंग नहीं आता।

यह अपूर्व अवसर है। अतएव दुःखों के मूल स्रोत को खोजने के लिए कटिबद्ध हो जाओ और अबाध अप्रतिहत गति से अग्रसर होओ। जो अविराम गति से अपने अंगीकृत पथ पर चलते रहते हैं, वे लक्ष्य पर पहुंच ही जाते हैं। भगवान् महावीर का पुनीत आदर्श अपने समक्ष रक्खो।

श्रद्धापूर्वक ज्ञान-चारित्र की आराधना करोगे तो निश्चय ही आपका परम कल्याण होगा।

ब्यावर
२२-८-५६ }

———

: ५ :

दुःखों का स्रोत—आरम्भ

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

सज्जनो और बहिनो !

अभी गायन के रूप में आपको जो कीर्तन सुनाया गया है, उसमें अरिहन्त भगवान् के गुण बतलाये गये हैं। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि अरिहन्त का गुणगान करने की हमें क्यों आवश्यकता पड़ी ? अरिहन्त के गुणों का गान करने से क्या लाभ होता है ?

यहां यह प्रतिपादन किया गया है कि जो मनुष्य श्रद्धा एवं भक्ति के साथ परमात्मा का गुणगान करता है, कीर्तन करता है,

उसकी विशेषताओं को जिह्वा से दोहराता है और स्मरण करता है, वह स्वयं अरिंहन्त बन जाता है।

कहिये, इससे सुन्दर खजाने की कुंजी और क्या मिलेगी ? केवल श्रद्धा के साथ गुण गाना और अरिहन्त बन जाना, यह कितना सस्ता सौदा है ! कितनी सरल तरकीब है ! किन्तु श्रद्धा के साथ गुण गाना ही तो कठिन है।

सज्जनो ! परमात्मा के प्रशस्त गुणों के गान करने का मनोभाव उत्पन्न हो जाना, उस ओर आत्मभाव हो जाना बड़ा कठिन है। आज मनुष्य निन्दा और चुगली में तथा विकथा और गपशप में समय खर्च कर देगा और ऐसा करने में परम आनन्द का अनुभव करेगा, किन्तु जब भगवान् के गुणगान का समय आता है तो उसे नींद आने लगती है। इस सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। आपको अपने-अपने मनीराम (मन) का भली-भांति अनुभव है। जब आप सामायिक करनें वैठते हैं और परमात्म-स्मरण करने का उपक्रम करते हैं, तो आपके मनीराम कितनी उछलकूद मचाते हैं ? आप उन्हें इधर ले आना चाहते हैं, मगर वह इतने हठी हैं कि मानते नहीं। कभी इधर और कभी उधर भागते हैं और आपके नियंत्रण को व्यर्थ वना देते हैं। उस समय आत्मा का और मन का संघर्ष होने लगता है, यद्यपि यह सत्य है कि इस संघर्ष में जो बलवान् होता है, वह अपने प्रतिपक्षी को पराजित कर देता है और स्वयं विजयी बनता है,

मगर आत्मा में बल कब आता है ? आत्मिक शक्ति हो, आत्मीय वीर्य हो, तभी संघर्ष में सफलता मिलती है और तभी दुश्मन को पछाड़ा जा सकता है। ऐसा न हो तो दुश्मन ही आत्मा पर काबू पा लेता है।

हां, तो ज्ञानी कहते हैं कि प्रभु के गुण गाने से गुण गाने वाला स्वयमेव प्रभु वन जाता है। किन्तु यहां प्रश्न किया जा सकता है कि—यह ठीक है कि अरिहन्त में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि अनेक प्रकार की विशेषताएं थीं, किन्तु उन विशेषताओं पर तो उनकी ही आत्मा का अधिकार है। उनसे हमारा क्या लाभ हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—यह ठीक है कि अरिहन्तों के गुण उनकी आत्मा से ही सम्बन्ध रखते हैं। किसी भी पदार्थ के गण उससे पृथक् नहीं हो सकते, क्योंकि द्रव्य और गुण में तादात्म्य सम्बन्ध होता है और तादात्म्य सम्बन्ध किसी भी काल में, किसी भी उपाय से भंग नहीं किया जा सकता। किसी द्रव्य के गुण यदि उससे भिन्न हो जायें तो न तो उस द्रव्य की ही सत्ता शेष रहे और न उस गुण की ही। क्योंकि द्रव्य के विना गुण और गुण के विना द्रव्य कहीं रह ही नहीं सकता। अतएव अरिहन्तों के गुण उनकी आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते—हमारी आत्मा में भी नहीं आ सकते। पानी में जो शीतलता है, वह पानी का ही गुण है। किन्तु जो पानी के पास बैठता है, उसे क्या शीतलता की प्राप्ति नहीं होती ? उसे शीतलता का अनुभव होता है, शीतल पवन लगता है और यदि वह संताप से पीड़ित है तो उसका संताप शान्त हो जाता है, आह्लाद की अनभूति होती है। इसके विपरीत वह व्यक्ति यदि उवलते हुए पानी के कढाव के समीप बैठता है तो उसमें से निकलने वाली उष्णता का प्रभाव भी उसपर होता है।

अरिहंतों की आत्मा शीतल आत्मा है, क्योंकि उसमें से कषायों की उष्णता समूल नष्ट हो चुकी है। उनकी आत्मा

स्वच्छ, पवित्र एवं शीतल सरोवर की तरह है। जो उनके सम्पर्क में आता है, जो उनकी संगती करता है, जो उनकी कल्याणी वाणी का श्रवण करता है और जो उनका गुणगान करता है, उसकी आत्मा को भी उनके गुणों की शीतल वायु स्पर्श करके शान्ति प्रदान करती है। कहा है :—

'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।'

अर्थात्—संसर्ग से दोषों की भी उत्पत्ति होती है और गुणों की भी उत्पत्ति होती है।

यदि कोई मनुष्य कामी, क्रोधी, लोभी विषयलम्पट, रागी और द्वेषी व्यक्ति, चाहे वह कोई साधारण मनुष्य हो या देव रूप में, जो भी उसके संसर्ग में आता है तो उसे वहां शान्ति नहीं मिल सकती। जैसे गर्म पानी के पास जाने पर शीतलता नहीं मिलती, किन्तु उष्णता की ही प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आत्मशान्ति के इच्छुक व्यक्तियों को तो शान्तिमयी आत्मा के पास जाने से ही शान्ति मिल सकती है और यह गुणगान करना भी उस लोकोत्तर शान्ति से परिपूर्ण वीतराग आत्मा के संसर्ग में आना ही है और उसके साथ संबंध जोड़ना है।

सज्जनो ! मन में जितेन्द्रदेव के प्रति श्रद्धा या निष्ठा होना, पूज्य भाव होना ही उनके साथ मानसिक संबंध जोड़ना है। वचनों द्वारा उनका गुणगान करना वाचनिक सम्बन्ध स्थापित करना है और काया के द्वारा अरिहन्त भगवान् को नमस्कार करना, वे जब यहां होते हैं तो उनकी आहार-पानी से सेवा करना, उपदेश सुनना तथा उनके द्वारा उपदिष्ट साधनारूप धर्मक्रियाओं का आचरण करना उनसे कायिक संबंध जोड़ना है।

याद रखना चाहिए कि जब तक हमारा मन, वचन और काय-के योगों द्वारा अरिहन्तों के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक हम अरिहन्त नहीं बन सकते। अगर तीनों में से किसी भी एक योग की न्यूनता रह जायेगी तो भी हमारी आत्मा अरिहन्त भाव प्राप्त नहीं कर सकती। जो भी रसायन बनाई जाती है, अगर उसके नुस्खे के अनुसार सारी चीजें हों, तो वह रसायन बनती है, अन्यथा नहीं बन सकती। अतएव हमें तीनों योगों द्वारा अरिहंत परमात्मा के साथ संबंध जोड़ना चाहिए। अर्थात् मन में उनके प्रति श्रद्धाभाव, भक्तिभाव और बहुमान का भाव होना चाहिए, वचनों से गुणगान होना चाहिए और काय से उनके द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना चाहिए। यही उनके साथ सम्बन्ध जोड़ना है। अरिहंतो के नाम पर नाचना, कूदना, तान तोड़ना और जीवों की हिंसा करना, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ना नहीं है बल्कि तोड़ना है। मन, वचन, काय से प्रभुभक्ति की तरफ लगने से ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है।

सज्जनो! अरिहंतों का हमारे उपर महान् उपकार है। जो व्यक्ति हमारे उपर थोड़ा-सा भी उपकार कर देता है, हम उसका बड़ा ऐहसान मानते हैं और बदला नहीं चुका सकते, तब अरिहंत भगवान् द्वारा कृत उपकार की महत्ता का तो कहना ही क्या है! उसका बदला तो भव-भव में प्रयत्न करके भी सहज में नहीं चुकाया जा सकता।

इस दुनिया में जिसका कोई नहीं है, उसके आधार भगवान् हैं। भगवान् के समवसरण में, दरबार में, गरीब और अमीर, पशु और पक्षी तथा दुष्ट और सज्जन, सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं। वहां शूद्रों को भी जाने का उतना ही अधिकार है, जितना

किसी ब्राह्मण को । उच्चता-नीचता की भावना को लेकर मनुष्य-जाति के जो भी विभाग किये गये हैं, उनके पीछे केवल स्वार्थवृत्ति ही काम कर रही है। मनुष्य जाति एक है और अखंड है और उसमें कोई आधारभूत भेद नहीं। सामाजिक सुविधा के लिहाज़ से वर्णों की व्यवस्था अवश्य की गई थी, परन्तु उसमें उच्चता-नीचता की कोई कल्पना नहीं थी । स्वार्थी वर्ग ने बाद में यह विष-बेल बो दी है।

भगवान् के समवसरण में बारह प्रकार की परिषद् आती थी। उसमें देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च भी होते थे। सभी भगवान् की शरण में आकर जीवनोत्थान कर सकते थे। सभी को परम शान्ति प्राप्त करने का समान अधिकार था । वीतराग प्रभु का हाथ सब के सिर पर समान था । सभी उनके पीयूषमय प्रवचन से लाभ उठाते थे।

तो मैं कह रहा था कि जब अरिहंतों का हमारे प्रति इतना महान् उपकार है, जिससे हम कभी उऋण नहीं हो सकते, तो हमारा यह पवित्र कर्त्तव्य है कि हम शुद्ध हृदय से उनका गुण-गान करें, तभी हम कृतज्ञ हो सकते हैं।

भद्र पुरुषो; अरिहन्त भगवान् भूले-भटके जीवों को राह दिखलाने वाले हैं, दिशाभ्रान्तों को दिग्दर्शन कराने वाले हैं और अनन्त काल से जो जीव दुःखों की यातना भोग रहा है और कर्मरोग से पीड़ित है, उसके लिए वही सच्चे वैद्यराज बन कर बीमारी से बचाने वाले हैं। यह संसारी जीव अनादि काल से दुःखों से घबरा रहा था, छटपटा रहा था और यातनाओं से छुटकारा पाने के लिए तड़प रहा था और दुःखों से मुक्त होने की कोशिश कर

रहा था, किन्तु उसे राहत नहीं मिली। तो उस दुःख का—कर्मरोग का पता लगाने के लिए अनेक कर्मठ व्यक्ति कमर कस कर चले, किन्तु बाधाओं और आपत्तियों के थपेड़ों से घबरा कर वापिस लौट आये और सफलता प्राप्त न कर सके। किन्तु उनमें एक महान् वीर-पुरुषोत्तम भी था, जो प्रचंड से प्रचंड बाधाओं के सामने झुका नहीं, विपदाओं की पर्वतमालाएँ जिसका पथ अवरुद्ध न कर सकीं, विघ्नों के महासागर जिसकी गति को कुंठित न कर सके और परीषहों के अल्हड़ तूफान जिसके वेग को मन्द न कर सके। वह दृढ़तम संकल्प और अव्याहत पुरुषार्थ की पूंजी लेकर प्रस्थित हुआ था और चला तो चलता ही चला। कहीं भी ठिठका नहीं, रुका नहीं। वह वीरवर जगत् में महावीर के नाम से विख्यात हुआ। उसने दुःखों के मूल को समझ लिया, पा लिया और खोज कर दुनिया से कहा :—

आरंभजं दुक्खमिणं ति नच्चा।

अर्थात्—प्राणियों को सभी प्रकार के दुःख हिंसा आदि आरंभ से ही होते हैं। ऐसा जान कर जो दुःखों से बचना चाहते हैं, उन्हें आरंभ से बचना चाहिए।

इसी सिद्धान्त पर भगवान् महावीर का जीवन चला। उन्होंने अपना समस्त जीवन अनारंभ और अहिंसा के आधार पर व्यतीत किया और जगत् के हित के लिए उसी मार्ग का प्रकाश किया।

कई दिनों से इस मूल सूत्र के लिए भूमिका बनाई जा रही थी और आज उसके उल्लेख का अवसर आ सका। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि विवाह होने में बहुत देर नहीं लगती, किन्तु विवाह की भूमिका के लिए बहुत दिन पहले ही

तैयारी शुरू हो जाती है। इसी प्रकार मैंने भी इस सूत्र के लिए बहुत दिनों से आपकी आत्मभूमिका को स्वच्छ करने का प्रयत्न किया है और अब यह सूत्र शायद आपकी उर्वरा बुद्धि-भूमि में बीज का काम दे सकेगा।

तो भगवान् महावीर ने फरमाया है कि संसार में जितने भी दुःख हैं, उनका प्रथम और मूल कारण शरीर है। यद्यपि शारीरिक दुःखों से अतिरिक्त मानसिक दुःख भी कहे जाते हैं, मगर वह भी शरीर के होने पर ही होते हैं और शरीर के अभाव में नहीं होते। अतएव उनका मूल कारण भी शरीर ही है। यह शरीर ही समस्त दुःखों और रोगों का घर है। इसमें हीरे-पन्ने नहीं किन्तु मल-मूत्र भरे पड़े हैं, गंदगी भरी पड़ी है और यह नाना प्रकार की व्याधियों का घर है। जो महाभाग शरीर से मुक्त हो चुके हैं—अशरीर अवस्था प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें कोई दुःख नहीं होता।

यद्यपि यह शरीर अनेक प्रकार की व्याधियों का घर है और अत्यन्त अशुचि से परिपूर्ण है, तथापि यह भी सत्य है कि संसार के समस्त दुःखों का आत्यन्तिक निरोध इसी शरीर के द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार यह शरीर ऐसा है कि इसी से दुःख भोगे जाते हैं और इसी से दुखों का निवारण भी किया जाता है। चीज तो वही है किन्तु वैद्यराज ठीक ढंग से उसका सेवन कराते हैं तो रोग कम हो जाते या मूलतया नष्ट हो जाते हैं; यदि कोई मूर्ख सेवन कराता है तो रोग की वृद्धि हो जाती है। यह सेवन करने की विधि पर निर्भर है।

तो संसार में प्राणी तन, धन, जन, मन या कण से दुःखी नजर आते हैं, अर्थात् कोई शरीर से लाचार है—बीमार है, किसी के पास धन नहीं है और धन के अभाव में दुःख पा रहा है,

क़िसी के मन में चिन्ता और शोक है तो वह भी दुःखी हो रहा है; कोई इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग के कारण दुःख का अनुभव कर रहा है। इस प्रकार यह संसार दुःखों का भंडार है और कोई भी प्राणी ऐसा दिखाई नहीं देता जो अपने आपको पूर्ण सुखी कहता या समझता हो। वास्तव में ऐसा संभव नहीं है कि संसार में रहते हुए भी कोई दुःखों के स्पर्श से शून्य रह सके।

इन उपरोक्त सब दुःखों का मूल स्रोत आचारांग सूत्र में भगवान के द्वारा प्रदर्शित कर दिया गया है, जो बड़े ही महत्त्व का है, हृदयग्राही है और सत्य वस्तुस्वरूप का निदर्शक है। यह भगवान् के साक्षात् वचन हैं, हमारी या तुम्हारी कल्पना नहीं है। इस वचन पर भगवान् की छाप है। ऐ भगवान् का नाम लेने वालो ! और ऐ भगवान् के नाम पर हिंसा करने वालो ! भगवान् के मुख से निकले हुए सूत्र को हृदय में उतारो। यदि उतार लोगे तो तुम्हारा बेड़ापार हो जायेगा। किन्तु भगवान् के वचनों के विरुद्ध यदि मनमानी करते हो और भगवान् को भी पाप का भागी बनाते हो तो इससे तुम्हारा कल्याण होने वाला नहीं है।

शास्त्र में आया है कि तुम्हें किसी देवी-देवता ने दुःख नहीं दिया है, ईश्वर ने दुःख नहीं दिया है, ग्रह-नक्षत्र ने दुःख नहीं दिया है और पड़ोसी ने भी दुःख नहीं दिया है, किन्तु यह सभी दुःख, जो तू भोग रहा है, आरम्भज ही हैं। सब दुःखों का दाता आरंभ है। संसार के प्राणियों के साथ जितने भी दुःख लगे हैं, सब आरंभ से उत्पन्न होने वाले हैं और उस आरंभ के नौ भंग हैं या नौ विकल्प हैं और वे इस प्रकार हैं :—

मानसिक, वाचिक और कायिक—यह आरंभ के मूल तीन भेद हैं। इन तीनों के भी संरंभ, समारंभ और आरंभ के भेद से

तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार सब मिल कर नौ भंग बन जाते हैं।

यहां आरंभ तीसरे नंबर पर है। उससे पहले दो श्रेणियाँ हैं, जो आरंभ को प्रोत्साहन देने वाली और ठीक रूप से बल देने वाली हैं। अतएव जब तक पहले को दो श्रेणियों या भूमिकाओं को नहीं समझ लिया जाता, तब तक आरंभ का ठीक तरह से स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

आपको पता होगा कि संज्ञा की दृष्टि से संसारी जीव दो प्रकार के होते है—संज्ञी और असंज्ञी। जो मन वाले हैं, वे संज्ञी और जो बिना मन के हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। मनुष्यगति और तिर्यंच गति में संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के जीव होते हैं, किन्तु देव और नारक संज्ञी ही होते हैं। यद्यपि असंज्ञी जीव देवगति और नरकगति में जाकर उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे वहां जाकर संज्ञी हो जाते हैं। असंज्ञी जीव मर कर नरक में जाये तो पहले नरक तक ही उत्पन्न होता है।

सज्जनो ! मन में भी बड़ी शक्ति है। यह संज्ञी मनुष्य के जीवन को ऊंचे से ऊंचा ले जाने में भी समर्थ है और नीचे से नीचे पहुंचा देने में भी समर्थ है। मन के अभाव में जीव ज्यादा से ज्यादा पाप या पुण्य नहीं कर सकता। अतएव वह यदि देवलोक में जाये तो प्रथम देवलोक तक ही जाता है और नरक जाये तो प्रथम नरक तक जा सकता है। कहा भी है :—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

यद्यपि पाप काय से और वचन से भी किये जाते हैं, किन्तु समस्त पापों का मूल यदि कोई है तो वह मन ही है। जो व्यक्ति

किसी को वचन द्वारा अथवा काय द्वारा दुःख देना चाहता है, वह सर्वप्रथम मन में वैसा विचार करता है। मन के वल-वूते पर ही फिर वचन और काय प्रहार करना शुरू कर देते हैं। अतएव मनुष्य का सवसे वड़ा शत्रु या मित्र है तो मन है। यह आत्मा मन के अधीन होकर सातवें नरक में और मन की परिणामधारा वदलते ही २६वें देवलोक में भी जा सकता है। काय से और वचन से कुछ भी न करके केवल अपनी मन की भावना ही भावना द्वारा क्षण भर में सातवें नरक में और दूसरे ही क्षण में सर्वार्थसिद्ध विमान में भी पहुँचने की सामग्री उपार्जन कर लेता है।

आशय यह है कि तुमको धन मिल गया है, यह पुण्य का उदय है और लाभान्तराय कर्म का क्षयोपक्षय है। किन्तु अब धन का दुरुपयोग या सदुपयोग करना तुम्हारे हाथ की वात है। उसी धन से चाहो तो दान देकर, वस्त्र, भोजन, शैया आदि देकर पुण्योपार्जन कर सकते हो और ऊँचे देवलोक के अधिकारी भी वन सकते हो। शक्ति मिली है तो उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना धनी के अधीन है। शस्त्र तुम्हारे हाथ में है, उसे चाहे रक्षक वना लो, चाहे भक्षक वना लो। यदि उसे ठीक ढंग से पकड़ कर, समय आने पर, शत्रु के सामने खड़े हो जाओगे तो आत्मरक्षा कर सकोगे और यदि उसे लेकर वेढंग से विस्तर पर सोओगे तो इधर से उधर करवट वदलने पर वही तुम्हारा भक्षक भी वन सकता है।

याद रखना, शास्त्रकार वतलाते हैं कि सवसे वड़ा पाप का कारण मन है। मनोहीन असंज्ञी जीव न अधिक पुण्य कर सकते हैं, न पाप कर सकते हैं और न उनकी विशेष ऊँची-नीची गति ही होती है। क्योंकि उन्हें मन प्राप्त नहीं है। वे सिर्फ वचन

और तन से ही पाप करते हैं। उनमें विचारणा करने की शक्ति नहीं है, वे सोच नहीं सकते, क्योंकि सोच-विचार मन के द्वारा ही होता है। यह मनःशक्ति न होने के कारण वे अगर देवगति में जाते हैं तो भवनपति या वाणव्यन्तर ही होते हैं—ज्योतिष्क और वैमानिक देव नहीं बन सकते ; क्योंकि इसके लिए जो विशेष पुण्योपार्जन होना चाहिए, उसे वे मन के विना कर नहीं सकते। जिसे वड़ा व्यापार करना है, उसकी पूंजी भी उसी अनुपात से वहुत होनी चाहिए। थोड़े-से द्रव्य से कोई भारी व्यापार करना चाहे तो कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार वहुत उच्च गति पाने के लिए मन की सहायता चाहिए। जो मन में उदारता रक्खेगा, मन से प्रशस्त चिन्तन करेगा, शुभ परिणाम धारण करेगा, वह महान् पुण्योपार्जन कर सकता है। आपकी भावना क्या होनी चाहिए ?

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

अर्थात् संसार के सभी जीव सुखी हों, सभी जीव नीरोग हों, सबका कल्याण हो और किसी को भी दुःख की प्राप्ति न हो। 'सुखी रहें सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे'। यह उपरोक्त पंक्ति, मेरी भावना नामक एक छोटी सी पुस्तिका में छपी हुई है। हां, तो इस प्रकार मन में विश्व के प्राणी मात्र के लिए यही शुभ भावना रहनी चाहिये कि सभी जीव सुखी हों और किसी को दुःख न देखना पड़े। यह भावना 'मेरी भावना' की पोथी तक ही सीमित न रह जाये, किन्तु हृदय में उतर जाये, तभी आपका कल्याण होगा। अगर यह भावना वचन मात्र तक सीमित

न रह कर आत्मा की निज की भावना बन जायेगी, तभी समझो कि वह मेरी भावना है। अन्यथा वह तेरी चीज़ नहीं, पुस्तक की है। तेरी चीज़ तो तभी हो सकती है, जब वह तेरे अधिकार में हो। मानो, एक चीज़ दूसरे के कब्जे में है और तू समझता है कि यह मेरी है, किन्तु जब तक पूर्णतया उसपर तेरा अधिकार नहीं हो जाता, समझ ले कि वह तेरी नहीं, परायी है । 'मेरी भावना' को बार-बार पढ़ने की सार्थकता तभी है जब उसे पढ़ने से राग-द्वेष की प्रचण्ड आग शान्त हो जाये और प्राणीमात्र के प्रति समभाव की जागृति हो जाये। जीभ से बोल देने मात्र से आत्मा का हित होने वाला नहीं। किसी को मालूम है कि इस नुस्खे में दुस्साध्य रोग की दवा लिखी हुई है और उस दवा का सेवन करके कितने ही रोगी नीरोग हो गये हैं। किन्तु जब तक वह उसके अनुसार दवा बना कर सेवन नहीं करेगा और बार-बार नुस्खे को ही पढ़ता रहेगा, तब तक उसके रोग की उपशान्ति नहीं होगी। रोगोपशान्ति के लिए औषध का सेवन ही उपयोगी होगा, नुस्खे का रटन उपयोगी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार 'मेरी भावना' में आत्मा की बीमारी को दूर करने के लिए सुन्दर-सुन्दर नुस्खे लिखे हुए हैं, मगर उन्हें बोल लेने मात्र से कैसे लाभ हो सकता है? उन नुस्खों का सेवन करो, जीवन में उतरोगे और उसमें लिखी हुई समस्त श्रेष्ठ बात को धारण करके जीवनोत्थान के कार्य करोगे, तो ही नीरोग अवस्था प्राप्त कर सकोगे। मगर आज के मानव को तो बीमारी ही कुछ निराली है। ज्यों-ज्यों दवा दी जाती है, त्यों-त्यों रोग की अभिवृद्धि होती है। इसका कारण यह नहीं कि दवा ठीक नहीं है, किन्तु रोगी की पथ्य के प्रति उपेक्षा है। उसके लिए ऐसे

कुशल वैद्य की आवश्यकता है, जो नुस्खे के मुताबक ही दवा बना कर दे और फिर उसके पथ्यपालन की भी देख-रेख रक्खें।

हां, तो मैं यह कह रहा था कि मन के द्वारा मनुष्य अपने भविष्य को उन्नत भी बना सकता है और निकृष्ट भी बना सकता है। मन वाले संज्ञी जीव चारों गतियों में हैं, किन्तु असंज्ञी जीव मनुष्य गति और तिर्यंच गति में ही होते हैं। संज्ञी जीव के लिए मोक्ष का द्वार भी खुला है। उसके लिए सारी विलायतें खुली हैं। वह जहां जाना चाहे, वहां जा सकता है और जहां से चाहे वहां से माल मंगवा सकता है। किन्तु असंज्ञी जीव में वह शक्ति नहीं है और शक्ति नहीं है तो वह अधिक लाभ और हानि का अधिकारी भी नहीं है।

तो आरम्भ की तीन श्रेणियां हैं। उनमें पहली श्रेणी है संरंभ अर्थात् किसी काम को प्रारम्भ करने का उपक्रम करना। किसी मनुष्य, देव, नारक या तिर्यंच प्राणी के मन में किसी को दुःख देने के, पीड़ा पहुंचाने के विचार उत्पन्न होना संरंभ है। ऐसी दुष्ट भावनाएं प्राणी के मन में प्रायः उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार की भावना को शुरूआत को मन का संरंभ कहते हैं। जब संरंभ हो गया तो वह दुःख देने के जो साधन थे, सामग्री थी, जिन-जिन कारणों से वह किसी का बुरा कर सकता था, उन साधनों को जुटाने लगा। इस प्रकार मन ही मन किसी को पीड़ा पहुंचाने के साधन जुटाना मन का समारंभ हो गया। इस प्रकार संरंभ और समारंभ करके वह पाप का भागी बन गया। यद्यपि उसने अभी तक किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है, तथापि बिगाड़ने की भावना उत्पन्न होने के कारण और साधन सामग्री

जुटाने के कारण उसे पाप का भागी बनना पड़ा। उसकी आत्मा पाप से भारी हो गई।

इसके पश्चात् जो कुछ करने का विचार किया था और जिसके लिए साधन जुटाये थे—जो हानि किसी को पहुंचानी थी, उसे मन ही मन कर डाला तो वह मानसिक आरम्भ हो गया।

आज मनुष्य को और कुछ नहीं तो कम से कम मन तो मिला ही है। वह चाहे तो उस मन से किसी का भला भी कर सकता है, संसार का भला सोच सकता है और मनःपुण्य का उपार्जन कर सकता है। लघुकर्मी जीव तन, मन और धन से दूसरों का भला करता है। मन से किसी का हित सोचने में न किसी प्रकार की कठिनता होती है और न धन व्यय होता है। बल्कि दूसरों का हित चाहने से, दूसरों का हित हो अथवा न भी हो, सोचने वाले का हित तो हो ही जाता है। कितना सस्ता सौदा है; फिर भी अभागा मनुष्य अपने मन को अशुभ चिन्तन से हटा कर शुभ चिन्तन में प्रवृत्त नहीं करता! किन्तु जो ऐसा नहीं कर सकता, वह अपने उस प्रचुर पुण्य को, जिसके उदय से मन की प्राप्ति होती है, व्यर्थ ही नष्ट करता है। यही नहीं, वरन् उस पुण्य-प्राप्त मन से घोर पाप का भी संचय कर लेता है! एक उर्दू-शायर कहता है :—

है नहीं मुश्किल जीतना दस लाख सुभटों का।
है आफ़रूं उसको कि जिसने अपना मन जीता॥

सज्जनो! वासुदेव में दस लाख योद्धाओं—शूरवीरों को पछाड़ने का बल होता है। वे अकेले दस लाख वीर सुभटों को पछाड़ देने में समर्थ होते हैं। साधारण मनुष्य उनके लिए मेंढक के

समान है। यद्यपि एक मनुष्य दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त कर ले, यह विस्मयजनक वात है, फिर भी वासुदेव में वह विस्मयकर असाधारण शक्ति होती है। इतनी प्रचण्ड शक्ति के धारक वासुदेव के लिए भी मन को जीतना सरल नहीं है। शायर कहता है:—

उठाया कोह रुस्तम ने, अगर तो सख्त नादां है।
उठाना दिल का दुनिया से, अजबकारे नुमायां है॥

आपने रुस्तम पहलवान का नाम तो सुना है न? उसने अच्छे-अच्छे पहलवानों को कुश्ती युद्ध में पछाड़ दिया था। हरेक को उसके सामने आने की हिम्मत नहीं होती थी। और कहने को तो संसार रुस्तम के सम्बन्ध में यह भी कहता है कि उसने कोह-पर्वत भी उठा लिया था; अर्थात् उसमें वड़ी जवर्दस्त शक्ति थी। यद्यपि पहाड़ उठा लेने योग्य वस्तु नहीं है, तथापि आलंकारिक कथन इस प्रकार के होते हैं और अलंकार के पर्दे को हटा दिया जाये तो इस का अर्थ यही होगा कि उसमें अद्भुत और असाधारण शक्ति थी। क्योंकि एक आदमी वड़ी से वड़ी वस्तु को हिला सकता है, किन्तु उठा तभी सकता है जव कि वह उसके कंधे पर आये। पहाड़ कंधे पर आ नहीं सकता, अतएव उठाया भी नहीं जा सकता। अतएव हमें यही समझना चाहिए कि यह उन महान् वीरों की शक्ति का विशेष ढंग से किया गया वर्णन है।

मगर उर्दू शायर कहता है कि कदाचित् मान लिया जाये कि रुस्तम ने पहाड़ उठा लिया और उसमें असाधारण शक्ति थी, मगर ऐसा करके भी उसने कोई बुद्धिमत्ता नहीं दिखलाई। इतनी शक्ति पाकर भी उसने उठाया तो पहाड़ उठाया! इससे

उसे क्या लाभ हुआ ? कुछ भी तो नहीं। अगर पहाड़ उठाने के बदले वह निन्दा से, चुगली से, राग-द्वेष से और बुरी भावनाओं से अपने मन को ऊंचा उठा लेता तो उसकी उस प्रचण्ड शक्ति का सदुपयोग हो जाता और उसका नाम सुनहरी अक्षरों में लिखने योग्य हो जाता। मगर उसने उठाये भी तो पत्थर उठाये ! कोई ऐसी चीज़ नहीं उठाई, जिससे उसका कल्याण हो जाता ! और फिर पत्थर तो पत्थर ही है, चाहे घर का हो, चाहे बाहर का। ठोकर लगी नहीं कि चोट आई; क्योंकि घर का पत्थर भी कोई रबर का नहीं होता। उसका धर्म चोट पहुंचाना है और चोट पहुंचाये बिना वह नहीं रहेगा।

तो कवि कहता है—रुस्तम ने अगर पहाड़ उठाया तो बड़ी गलती की। अगर वह उसी शक्ति को, पापों से मन को ऊँचा उठा देने में लगा देता तो उसका बेड़ा पार हो जाता। मगर आज निरर्थक कार्यों में और पाप के कार्यों में शक्ति लगाने वाले बहुत हैं। धर्म में अपनी शक्ति व्यय करने वाले विरले ही मिलते हैं। जिनकी गति-मति खोटी होती है, वे निन्दा और चुगली करते रहते हैं। जो लोग मुँहपत्ती बाँध कर भी और धर्मस्थानक में भी अपनी पाप-रामायण चलाते रहते हैं, वे घर पर कब चूकने वाले हैं ? धर्मस्थानक में तो धर्म की साधना ही होनी चाहिए। परन्तु—

दिन गँवाया बातों में, रात गँवाई सोय।
दोय घड़ी प्रभु नहिं भज्यो, मुक्त कहां से होय॥

दिन बातों में व्यतीत कर दिया और रात्रि सोकर खो दी। ऐसे लोग धर्मसाधना कब करेंगे और धर्मसाधना के बिना मुक्ति कैसे पायेंगे ?

तो मैं कह रहा था कि मन से प्राणी कल्याण भी कर सकता है और अकल्याण भी कर सकता है । वह धन से पुण्योपार्जन भी कर सकता है और पाप भी कमा सकता है । मनुष्य को पुण्य से पंचेन्द्रिय पर्याय और उसमें भी मनुष्यभव मिल गया । इतना पाकर यदि कोई उसका सदुपयोग करता है, तब तो वह धर्म और पुण्य का भागी बनता है और यदि निन्दा-चुगली आदि पाप करके दुरुपयोग करता है तो पाप का भागी बन जाता है । इसी मन के द्वारा मनुष्य स्वर्ग और नरक भी प्राप्त कर लेता है ।

आपने सुना ही होगा कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को इस मन ने क्या-क्या नाटक दिखलाये । काय से तो वे ध्यान में निश्चल खड़े थे, किन्तु दुष्ट मन के वशीभूत होकर, क्षण-क्षण में बदलने वाली परिणामधारा से उन्होंने प्रथम, द्वितीय यावत् सातवें नरक तक का टिकट कटा लिया था । मगर ज्यों ही मन ने पुनः मोड़ खाया, परिणामधारा पलटी और शुभ परिणामों की जागृति हुई तो सोचने लगे—किसका राजपाट और किसका बेटा-बेटी । हे आत्मन् ! तुझे इन बातों की चिन्ता क्यों करनी चाहिए ? जिस कीचड़ में से निकल चुका है, अब फिर क्यों उसमें फँस रहा है ? ऐसा सोचा और उनकी दुनिया दूसरी हो गई । वह पहले सोचते थे—राज्य पर शत्रु ने आक्रमण कर दिया है । वह मेरे बेटों को मार रहा है । मैं साधु बन गया तो क्या हुआ, आखिर तो अभी जीवित हूँ ! मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रिय का धर्म है कि वह शत्रु से देश की रक्षा करे । परन्तु जब मन ने अपना गलत रास्ता छोड़ कर सही रास्ता पकड़ा तो उन्हें वास्तविकता का बोध हुआ । इस संसार में कोई किसी का शत्रु नहीं, मित्र नहीं, पुत्र नहीं । सभी जीवों के साथ अनन्त-अनन्त बार सब प्रकार के संबंध हो चुके हैं ! फिर

किससे प्यार और किससे वैर किया जाये ? ऐसा बोध होते ही और परिणामधारा उच्चकोटि पर पहुँचते ही उन्हें सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपन प्राप्त हो गया। वास्तव में मन के विकार ही दुखप्रद होते हैं। किसी ने सत्य ही कहा है :—

सुखाय दुःखाय च नैव देवा
न चापि कालः सुहृदोऽरयो वा।
भवेत्परं मानसमेव जन्तोः।
संसारचक्रभ्रमणैकहेतुः ॥

अर्थात्–सुख अथवा दुःख न तो देवता देते हैं, न काल देता है। न मित्र सुख दे सकते हैं और न शत्रु दुःख पहुँचा सकते हैं। यह तो प्राणी का मन ही है जो संसार-चक्र में परिभ्रमण का कारण होता है। समस्त सुख-दुःख मन की ही बदौलत प्राप्त होते हैं।

अतएव मन को संयम में रखने की ही सबसे अधिक आवश्यकता है। मन का दमन किया जा सका तो इन्द्रियों का दमन करना चुटकियों का खेल हो जाता है; क्योंकि इन्द्रियों को कुपथ या सुपथ में प्रवृत्त करने वाला मन ही है। मन की प्रेरणा के बिना इन्द्रियां बेचारी कुछ भी नहीं कर सकतीं।

एक कहावत है—'सूत न कपास, जुलाहों से लट्ठमलट्ठा।' अर्थात् निष्कारण ही लोग आपस में लड़ने-झगड़ने लगते हैं। इस जीव के साथ अनादि काल से विषय-विकार लगे हैं। उनकी ट्रेनिंग लेने की आवश्यकता नहीं रहती। कोई कुंवारा देखता है कि—हाय, मेरे पड़ोसी की शादी हो गई है, किन्तु मेरी नहीं हुई; उसे यह विचार नहीं आता कि पिछले अनन्त जन्मों में मेरी

अनन्त शादियाँ हुई हैं। अगर इस जन्म में न भी हो तो क्या है ? भगवती सूत्र में कथन है कि इस जीव के अनन्त काल में अनन्त नाते हो गये हैं। फिर भी उसकी भावना उधर ही जाती है।

एक सेठ इसी शादी की गुत्थी को सुलझाने के विचार कर रहा था कि उसे नींद आ गई। सज्जनो ! मनुष्य जैसी भावना लेकर शयन करता है, उसे प्रायः वैसा ही स्वप्न दिखाई देता है। जो धर्मकथा या धर्मविचारणा करते-करते सोता है, उसे स्वप्न भी वैसा ही आता है। जब कोई नवकारमंत्र का उच्चारण करता हुआ सोता है तो उसे नींद भी जल्दी आती है और स्वप्न भी आये तो प्रायः अच्छा ही आता है। एक बजाज़ नींद में बोलता है— धोती फाड़ दो, फाड़ दो। इसका कारण यही है कि वह उसी चीज़ की भावना लेकर सोया था, अतएव अपने संस्कारों के कारण वैसा ही कहता है।

एक बाबू साहब ससुराल जाने की तैयारी में थे। वह घर से चल कर स्टेशन पर पहुँचे तो देखा कि लोग टिकट खरीदने लगे हैं और गाड़ी रवाना होने में देर नहीं है। वह हांपता-हाँपता टिकटघर जाकर टिकटविक्रेता बाबू से बोला—बाबजी, जल्दी से टिकट दे दीजिये।

बाबू ने पूछा—कहां का टिकिट चाहिए ?

उसने कहा—ससुराल का टिकट दे दीजिए।

उसकी भावना ससुराल की ओर ही दौड़ रही थी और उसी के विचार दिमाग़ में चक्कर लगा रहे थे, अतएव मुँह से भी ससुराल का टिकट ही निकला। उसे ससुराल की ही याद रह गई और वहां के स्टेशन का नाम कहना भूल गया। उसका यह

कहना सुन कर दूसरे लोग हँसने लगे और कहने लगे कि अच्छा आया विना पैसे का ड्रामा ! टिकट वावू ने कहा–भाई, ससुराल का टिकट नहीं मिलता । यहां गाँव के टिकट मिलते हैं ।

हाँ, तो जब वह सेठ शादी का विचार करते-करते सो गया तो उसे स्वप्न आया कि उसकी सगाई हो गई है और शादी के लिए तारीख नियत हो गई है। वराती सव तैयार हो रहे हैं, लोग सज-धज कर आ रहे हैं औरे वह स्वयं वड़ा वांका दूल्हा वन गया है ! उसकी सजावट में कुछ कसर नहीं रह गई है ।

वरात रवाना हुई और लड़की वाले के घर पहुँच गई । यथासमय पाणिग्रहण की विधि सम्पन्न हुई और गाजे-वाजे के साथ वधू घर पर आ गई। शयनगृह में दोनों पति-पत्नी शयन कर रहे हैं । तव वह सेठ कहता है—भाग्यवती ! गर्मी है जरा परे सरक जाओ । लो तुम न मानो तो मैं ही सरक जाता हूँ । और इस प्रकार कहता हुआ ज्यों ही वह अधिकाधिक सरका कि धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और हड्डी टूट गई । डाक्टर के पास गया और प्लास्टर चढ़वाना पड़ा ।

डाक्टर ने सेठ से पूछा—क्या हुआ ? कैसे लगी ?

सेठ–डाक्टर साहव ! कुछ न पूछिए ! विना कुछ हुए ही मर गया !

डाक्टर–कुछ कारण तो होगा ?

सेठ—न सगाई हुई, न विवाह और हड्डी टूट गई ।

इसके वाद उसने अपने स्वप्न का हाल वतलाया और अपनी दुर्दशा के लिए रोने लगा ।

कहने का आशय यह है कि जीवों की आशा-पिपासा अनन्त काल से विषय-विकारों की ओर खिंच रही है। निवृत्ति के पथ

पर कदम बढ़ाना उनके लिए अत्यन्त ही कठिन हो रहा है।

यही बात प्रसन्नचन्द्र मुनिराज के विषय में लागू होती है। वे ध्यान-मुद्रा में हैं, साधू-अवस्था में हैं, किन्तु मन के चक्रव्यूह में ऐसे फँसे कि मन ही मन द्वारा सातवें नरक के योग्य दलिए इकट्ठे कर लिए। परन्तु ज्यों ही उनका हाथ अपना मुकुट सँभालने के लिए सिर पर गया और मुकुट के बदले मुण्डित मस्तक का हाथ से स्पर्श हुआ कि मन पलट गया। उन्होंने विचारों के उस चक्रव्यूह को तोड़ना शुरू किया। मन के बुरे विचार रूप शत्रुओं पर काबू करते-करते सातों नरक के योग्य जो दलिए थे, उन्हें नष्ट कर दिया। उनकी भावना उत्तरोत्तर शुक्लपक्षी होती गई; क्योंकि कहा है—

भावना भवनाशनी।

वास्तव में शुद्ध भावना अनन्त-अनन्त भवों का नाश करने वाली है। जैसे दियासलाई की छोटी-सी आग रूई के बड़े-से-बड़े ढेर को भी क्षण भर में भस्म कर देती है, उसी प्रकार शुद्ध भावना भी पापों के पुंज को बात की बात में नष्ट कर डालती है। भावना की बदौलत ही दान, शील, तप आदि की क्रियाएं सफल होती हैं। कहा है :—

भव्यैश्च भावना भाव्या, भरतेश्वरवद्यथा।
फलन्ति दानशीलाद्या, वृष्ट्या यथेह पादपाः॥

अर्थात् भावना के प्रताप से दान, शील आदि धर्म फलप्रद होते हैं, जैसे वर्षा के कारण वृक्ष फल प्रदान करते हैं। अतएव भव्य

जीवों को भरत महाराज की तरह भावना आनी चाहिए। देखिए :—

षट्खण्डराज्ये भरतो निमग्नस्ताम्बूलवक्त्रः सविभूषणश्च ।
आदर्शहर्म्ये जटिते सुरत्नैर्ज्ञानं स लेभे वरभावतोऽत्र ॥

चक्रवर्ती भरत सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के षट्खण्ड राज्य में डूबे हुए थे। मुख में पान का बीड़ा है और अंग-अंग पर आभूषण शोभा पा रहे हैं। सुन्दर एवं बहुमूल्य रत्नों से जटित आदर्श महल में स्थित हैं। फिर भी उत्कृष्ट भावना के प्रभाव से उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई !

भावना में कितनी शक्ति है और उत्तम भावना का क्या माहात्म्य है, यह बात भरत जी के चरित से भली भांति समझी जा सकती है। वस्तुतः भावना ही धर्म का हृदय है, प्राण है। ठीक हो कहा है कि :—

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।

अर्थात् भाव-विहीन क्रिया यथेष्ट फल प्रदान नहीं करती।

हां, तो जब राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मानसिक उतार-चढ़ाव की तेज रफ्तार में से गुजर रहे थे, उसी समय राजा श्रेणिक उधर से निकले और उन्हें वन्दना करके भगवान् महावीर के दर्शन के लिए चले गये। भगवान् महावीर से उन्होंने प्रश्न किया—प्रभो ! प्रसन्नचंद्र महाराज अभी काल करें तो कहां जाएं ?

भगवान्—पहले नरक में।
श्रेणिक—और अब काल करें तो ?
भगवान्—दूसरे नरक में।

श्रेणिक के आश्चर्य की सीमा न थी। उसने फिर पूछा—प्रभो! और अब काल करें तो कहां जायें ?

भगवान्—तीसरे नरक में।

श्रेणिक—अब ?

भगवान्—चौथे में।

इस प्रकार श्रेणिक का कुतूहल बढ़ता गया और वह प्रश्न भी करता रहा। भगवान् ने पांचवें, छठे और अन्त में सातवें नरक में उत्पन्न होने की बात कही। यहां तक राजर्षि की भावना गिरती जा ही रही थी। मगर जब उनकी भावना में चढ़ाव आरंभ हुआ तो भगवान् ने उन्हें प्रथम, द्वितीय, तृतीय, यावत् छब्बीसवें देवलोक तक का अधिकारी बतलाया।

राजा श्रेणिक इतनी शीघ्रता के साथ मनोभावों में उतार-चढ़ाव की बातें सुन कर अत्यन्त चकित हो गया और सोचने लगा—बड़ी विषय गति है इस मन की! इसने क्षण भर में सातवें नरक में पहुंचा दिया और क्षण भर में सर्वार्थसिद्ध विमान में आसीन कर दिया। कैसा अद्‌भुत नाटक है! गज़ब का तमाशा है!

श्रेणिक इस सोच-विचार में डूबा हुआ ही था कि उसी समय उसे आकाश में गुजरते हुए विमान दिखाई दिये। उसने भगवान् से प्रश्न किया—'भंते! यह विमान कहां जा रहे हैं ?

भगवान्—मगधराज! जिन महामुनि के विषय में तूने प्रश्न किया था, उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है। उनकी उपासना करने तथा केवल ज्ञान का महोत्सव मनाने के लिए देवगण अपने-अपने विमानों से जा रहे हैं।

श्रेणिक—भंते ! आपका कथन सत्य है। उसमें संशय के लिए लेश मात्र भी अवकाश नहीं है। जिनेन्द्र का वचन त्रिकाल में अन्यथा नहीं हो सकता। किन्तु यह कथन केवल श्रद्धा से ही माना जा सकता है। बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर पाती।

भगवान्—ठीक कहते हो। यह बुद्धि की अक्षमता और अपूर्णता का ही परिणाम है राजन् ! प्रसन्नचन्द्र साधु तो वन गये किन्तु मनोवेग के कारण उनकी भावना बदल गई। वे युद्ध में निरत हो गये और दुश्मनों का सफाया करने लगे। उनका रौद्र-ध्यान बढ़ता-बढ़ता चरम सीमा पर जा पहुंचा। मगर जब हाथ मस्तक पर घूमा और राजमुकुट के बदले घुटी खोपड़ी हाथ में आई तो उन्हें अपनी साधुता की स्मृति हुई। बस, परिणामों का स्रोत दूसरी दिशा में तीव्रतर वेग के साथ बहने लगा और आत्मा में निर्मलता बढ़ती गई। आघात का प्रत्याघात हुआ, अर्थात् जितनी तेजी से परिणामधारा नीचे गिरी थी, उससे भी अधिक तेजो के साथ वह ऊंची चढ़ी। फल यह हुआ कि उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हो गई। इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

श्रेणिक ने कहा—कृतार्थ हुआ देव, इस अनुग्रह के लिए मन की चपलता के विषय में जानता तो था, परन्तु यह नहीं समझ पाया था कि उसकी गति इतनी अधिक चंचल है ! वह क्षण में सातवें नरक का और क्षण में मोक्ष का द्वार खोल देता है।

भगवान्—राजन् ! मन की सृष्टि ऐसी ही है। मन आत्मा के उत्थान में भी सहायक हो सकता है और पलक में भी।

श्रेणिक—प्रभो ! सत्य है, असंदिग्ध है।

सज्जनो ! माताओ और वहिनो ! तुम्हें मनोवल प्राप्त है; तुम्हें सोचने-विचारने और हित-अनहित का विवेक करने की शक्ति

मिली है। यह शक्ति मुफ्त में नहीं मिली है। इसके लिए आपको उपार्जित पुण्य की बहुत पूंजी व्यय करनी पड़ी है। अतएव मन मूल्यवान् वस्तु है और बड़ी उपयोगी है। इस शक्ति से अपना कल्याण करो। कल्याण तभी होगा जब दूसरों का भला सोचोगे, इससे दुष्ट चिन्तन न करोगे। प्रभु के साथ इसे तन्मय कर दोगे। इससे कभी अशुभ विचार न करोगे। कभी दुर्विषयों की ओर न दौड़ने दोगे। यद्यपि मन को काबू में रखना सरल नहीं, बहुत कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं है। अभ्यास और साधना से मन पर नियंत्रण किया जा सकता है।

तो इस कार संरंभ, समारंभ और आरंभ—यह तीन दर्जे मन के होते हैं। इसी प्रकार वचन के और काय के भी तीन-तीन दर्जे समझ लेने चाहिएं। उदाहरणार्थ किसी को मारने के लिए बोलने या मंत्र पढ़ने की तैयारी की, मंत्र पढ़ना शुरू कर दिया और उससे हानि पहुंचा दी तो यह वचन से संरंभ, सभारंभ और आरंभ हो गया। इसी प्रकार किसी पर शस्त्र उठाने का उपक्रम किया, शस्त्र उठा लिया और प्रहार कर दिया तो यह काय से संरंभ, समारंभ और आरंभ हुआ।

आरंभ की यह नौ कोटियाँ हैं। ज्ञानी पुरुषों ने अथाह ज्ञान के समुद्र को शीशी में भर दिया है। वे कहते हैं—दुनिया के लोगो ; तुम्हें इधर-उधर कहीं दौड़ने की आवश्यकता नहीं है, दुःख का स्रोत खोजने के लिए। समस्त दुःखों का उद्गम तो तुम्हारे भीतर ही है। तुम्हार आरंभ से ही सब दुःख उत्पन्न होते हैं। भगवान् ने खोज दिया है :—

आरंभजं दुक्खमिणं ति नच्चा।

हिंसा करना, जीवों का वध करना, त्रस और स्थावर जीवों के प्राण लूटना, फिर चाहे वह धर्म के लिए या दूसरे काम के लिए हो, चाहे नाम के लिए, चाहे दाम के लिए, चाहे स्वर्गधाम के लिए हो, सब आरंभ है। जो धर्म के नाम पर त्रस-स्थावर जीवों के प्राण लूट कर भी उसे पुण्य बतलाते हैं और धर्म बतला रहे हैं और उसे धर्म का साधन समझ रहे हैं, उन्हें भगवान् के कहे हुए सूत्र से निश्चय कर लेना चाहिए। मैं उनसे कहता हूँ कि आरंभ से आत्मा को सुख प्राप्त नहीं होगा। आरंभ जीव को दुःख देने वाला है। फिर पुरुष किसी भी काम के लिए हिंसा क्यों न करे, हिंसा तो हिंसा ही है। कोयले को हजार बार स्नान कराओ, कोयला कोयला ही रहेगा! अर्थात् अगर कोयला धोने से शुक्ल बन सकता है तो हिंसा भी मोक्ष देने वाली हो सकती है। किन्तु न ऐसा कभी हुआ, न होगा।

सज्जनो! 'आरंभजं दुक्खं' यह आचारांगसूत्र का पाठ है। इसे स्थानकवासी, मूर्तिपूजक और तेरहपंथी भी मानते हैं। दिगम्बरों को भी इस सूत्र को मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

तात्पर्य यह है कि आरंभ के स्वरूप को समझ कर उसे घटाने का और अन्ततः त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। आरंभ में न कभी धर्म हुआ है और न तीन काल में कभी होगा ही। जो आरंभ करते हैं, माया करते हैं और प्रमाद करते हैं, वे पुनः पुनः गर्भ में आयेंगे। ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट कथन कर दिया गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा विचार करता हुआ आरंभ में धर्म नहीं मानता, किन्तु मिथ्यादृष्टि शब्द में, रूप में, रस में, गंध में और स्पर्श में आसक्त हो जाता है। इन्द्रियों का स्वभाव है

कि जहाँ चमक-दमक एवं झिलमिलाहट करती रोशनी देखी, जहां केसर-कस्तूरी, इत्र, तेलफुलेल आदी की गंध आई, जहां खाने-पीने एवं नाचने-गाने आदि की सामग्री दिखाई दी, वहीं वे जोंक की तरह चिपक जाती हैं और हटाये नहीं हटती हैं। परन्तु अपनी इन्द्रियों को और मन को वश में करके मिथ्यात्व से समकित की ओर आना चाहिए। आरंभ को घटाते रहने से ही एक दिन वह आता है कि जीव मोक्ष के सन्निकट भी पहुंच जाता है।

भगवान् ने जो परम सूत्र फरमाया है, उसपर अमल करने से ही आत्मा का कल्याण होगा। जो धर्म के नाम पर हिंसा करेंगे, वे दोहरे पाप के भागी होंगे। एक तो आरंभ के और दूसरे मिथ्यात्व के पाप से उन्हें लिप्त होना पड़ेगा।

सज्जनो! समय चला जाता है, बात रह जाती है। यह सुनहरा जीवन बार-बार नहीं मिलता। अतएव अरिहन्तों के गुणगान करो और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलो। बन सके तो आठों पहर, अन्यथा सुबह-शाम तो अवश्य गुणगान करो। उससे क्या लाभ होगा?

सुबह शाम जिसको तेरा ध्यान होगा।
बड़ा भाग्यशाली वो इन्सान होगा॥

भव्य जीवो! शास्त्र की खुली घोषणा है कि सुख चाहो तो आरंभ को घटाओ। जो ऐसा करेगा वह संसार-समुद्र से पार हो जायेगा।

२३-८-५६ ब्यावर

: ६ :

दुःख और आरम्भ

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो। यह सर्वविदित है कि इस असार संसार में अनन्त अनन्त काल से अज्ञानी प्राणी अनेक प्रकार की, परम्परा के रूप में चली आने वाली शारीरिक और मानसिक यातनाएँ भोगता चला आ रहा है। इस क्रम का अन्त ही नहीं है। आज भी प्राणी यह यातताएँ भोग रहा है और भविष्य में भी भोगता चला जायेगा। इस विषय में मैंने कल बताया था कि ज्ञानी पुरुषों ने इस यातना के क्रम के कारण और उद्गम पर विचार करके यह निर्णय दिया है कि इन सब यातनाओं और व्याधियों का एकमात्र मूल स्रोत आरंभ है। जहाँ आरम्भ है वहां परिग्रह है। अर्थात् जहां-जहां किसी भी प्रकार की हिंसात्मक प्रवृत्तियां हैं, दूसरे शब्दों में जहां-जहां आरम्भी हिंसा है, वहीं-वहीं परिग्रह है। परिग्रह, हिंसा और आरम्भ—एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं, अथवा यह कहा जा सकता है कि अभिन्न हैं। जहां परिग्रह

होता है; वहां हिंसा भी होती है और आरम्भ भी होता है। परिग्रह की मात्रा जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक आरम्भ होता है। जितना मोटा आरम्भ हो, परिग्रह का भी उतनी ही मात्रा में अधिक होना अवश्यम्भावी है। ये जितने मोटे-मोटे कारोबार हैं, वे आरम्भ के अभाव में हो ही नहीं सकते। खेद की बात है कि वर्त्तमान में मनुष्य की प्रवृत्ति आरम्भ को घटाने की ओर कम और उसे बढ़ाने की ओर अधिक है। जबकि वास्तविकता यह है कि आरम्भ जितना बढ़ेगा, जन्म-मरण का यह कष्टदायी चक्र भी उतना ही अधिक बढ़ता जायेगा। क्योंकि कारण और कार्य क्या कभी पृथक् हो सके है। कारण है तो कार्य का होना अवश्यम्भावी है। यह न कभी हुआ है, न कभी हो सकता है कि कारण तो हो किन्तु कार्य न हो। कारण जितना अधिक होगा उतना ही अधिक कार्य भी होगा। उदाहरण के लिए सन को लीजिये। जितना अधिक सन होगा, रस्सी उतनी ही लम्बी बनेगी। और जितनी लम्बी रस्सी बनेगी, बंधन भी उसी अनुपात में अधिक होगा; जीव उतना ही अधिक बंधन में बंधेगा। अतएव ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि हे जीवात्माओं! यदि तुम्हें शांति इष्ट है, यदि तुम नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक दुःख-यातनाओं एवं व्याधियों रूपी बंधन से मुक्ति चाहते हो, तो आरम्भ को कम करो। यह सत्य है कि सांसारिक कार्यों में आरम्भ के विना काम चलता नहीं किन्तु कम से कम धार्मिक कार्यों में तो आरम्भ को स्थान न दो। क्योंकि कहा है :—

> **अन्य स्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विनश्यति।**
> **धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति॥**

सांसारिक कार्यों में, जैसे मकान बनाने, दूकान बनाने, लेन-देन करने आदि में गृहस्थ को मजबूर होकर आरम्भ करने पड़ते हैं, क्योंकि वे अनिवार्य हैं, पर जप-तप एवं अन्य धार्मिक कार्यों द्वारा, धार्मिक स्थान में उनकी निवृत्ति करके उन पापों को नष्ट किया जा सकता है। किन्तु यदि धर्म-स्थानों पर भी आरम्भ का, अर्थात् पाप का क्रम चलता रहे और जितने पाप घर पर न किए जायें, उससे अधिक धर्म-स्थानों पर किये जायें तो फिर अन्यत्र कहीं भी शान्ति का मिलना असम्भव है। वे पाप कहां धोये जा सकते हैं? सज्जनो। कीचड़ से मलिन हुए वस्त्र की शुद्धि स्वच्छ जलाशय में संभव है। किन्तु यदि वह जलाशय ही कीचड़ में सना हुआ हो तो फिर उस वस्त्र की शुद्धि कहां होगी? इसलिए यह स्मरण रखिये कि धर्मस्थानों पर तो धर्मक्रियाएँ ही होनी चाहिएँ। जो स्थान जिस निमित्त हो, वहाँ वही कार्य होना चाहिए। रसोईघर में रसोई बनाने-खिलाने का कार्य, दूकान में दूकानदारी का कार्य ही किया जाना शोभा देता है। नाम दूसरा रखना और कार्य दूसरा करना उस नाम की अवहेलना करना तो है ही, साथ ही यह दुनियां को धोखे में भी डालना है। वाचनालय वही है जहां वाचन हो, पुस्तकालय वही है जहां नाना विषयों की पुस्तकें हों। किन्तु उन्हीं स्थानों पर यदि कूड़ा-कर्कट अथवा लकड़ी-पत्थर रखे हों तो वह वाचनालय या पुस्तकालय न कहला कर कबाड़ी-खाना ही कहलायेगा। इसी प्रकार आप भी अपनी दूकान के व्यवसाय के अनुरूप ही वहाँ साइनबोर्ड लगाते हैं। किन्तु यदि नाम कुछ और है और कार्य वहां कुछ और ही होता है, तो मैं कहूंगा कि वह यथा नाम तथा गुण वाली दूकान नहीं है, अथवा वह तो दुनियां को ठगने का साधन

मात्र है। इसी प्रकार धार्मिक स्थान वही है जहाँ सामायिक, पौषध, छः काया और तपस्या-स्वाध्याय वगैरह होता है। हम कहेंगे कि वहां यथार्थ कार्य-सिद्धि हो रही है। किन्तु जहां धर्म कार्य के स्थान पर छः काया का कूटा किया जाता हो, वह धर्म-स्थान नहीं है। रक्षणालय उसी को कहा जा सकता है जहां जीवों का संरक्षण किया जाता हो, जीवों पर दया की जाती हो और जीवों को अभयदान दिया जाता हो। किन्तु उसके विपरीत जहां नाम तो धर्मस्थान दिया गया हो और कार्य जीवों के वध का किया जाता हो, जहाँ छः काया के जीवों की हिंसा की जाती हो, वह नाम सर्वथा निरर्थक है, प्रवंचना है और पाप है। इसी लिए मैं कहता हूं कि नाम सार्थक होना चाहिए, निरर्थक नहीं। निरर्थक नाम निर्मूल्य है।

सज्जनो : ज्ञानी पुरुषों ने दुनियां में तीन प्रकार के नाम बताये हैं—(१) यथार्थ नाम, (२) अयथार्थ नाम और (३) अर्थशून्य नाम। नाम का होना संसार में इसलिए आवश्यक है कि उसके अभाव में सांसारिक कार्य नहीं चल सकते। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को पुकारने के लिए उसकी कोई न कोई नाम संज्ञा होना आवश्यक है। धन के अभाव में धनी, ज्ञान के अभाव में ज्ञानी और ध्यान के अभाव में ध्यानी नहीं हो सकता। क्योंकि यदि दुनियां में धन, ज्ञान और ध्यान नाम की कोई वस्तु नहीं होती तो वे धनी, ज्ञानी और ध्यानी कैसे कहला सकते थे? नाम से ही नामी होता है। आपका अस्तित्व नाम से ही है। नाम न हो तो नामी को कैसे जाना जा सकता है ? पहिले वस्तु का होना आवश्यक है। पदार्थ के बिना संज्ञा कायम नहीं की जा सकती। नामी होगा तो नाम भी होगा, किन्तु नाम के बिना नामी भी नहीं है। संसार में

ऐसी कोई भी जड़ या चेतन वस्तु नहीं है, जिसका नाम न हो। सज्जनो ! यदि वस्तु का अस्तित्व है तो उसका कोई न कोई नाम होना भी अवश्यम्भावी है। नाम होने से हो हम उसको बुला सकते हैं, मंगवा सकते हैं या प्राप्त कर सकते हैं।

कहने का अभिप्राय यह हुआ कि नाम और नामी दोनों साथ-साथ ही रहते हैं। उनका सह-अस्तित्व है। अर्थात् नाम है तो नामी भी है और नामी है तो नाम भी है। मूलतया वे नाम भी दो प्रकार के हैं। उसके दो रूप हैं। एक नाम तो कर्मोदय से पड़ता है और दूसरी नाम-संज्ञा गुणों के द्वारा पड़ती है। जो नाम-संज्ञा गुणों के कारण पड़ती है, वही यथार्थ नाम है। क्योंकि जो नाम-संज्ञा कर्मों के द्वारा पड़ती है, वह तो तभी तक रहती है जबतक कि कर्म रहते हैं। कर्म नष्ट हो जाने पर वह नाम-संज्ञा भी स्वभावतः नष्ट हो जाती है।

इस स्थान पर यह प्रश्न हो सकता है कि कर्मोदय से होने वाली नाम-संज्ञाएँ कौन-कौन-सी हैं ? सज्जनो। नामकर्म की १९३ प्रकृतियां हैं। नामकर्म के उदय से होने वाली नामसंज्ञा को नामोदय कर्मसंज्ञा समझना चाहिए। नामोदय कर्मसंज्ञा में एकेन्द्रिय अर्थात् मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाम तथा द्वीन्द्रिय, त्रन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, आदि आदि में सभी नाम-संज्ञाएं गर्भित हैं। जब एकेन्द्रिय नाम हमारे सामने आता है तो तुरन्त ही मिट्टी, पानी, अग्नि, हवा और वनस्पति के जीवों का उद्बोधन मिल जाता है और हमारी दृष्टि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवों की तरफ नहीं जाती। उसी प्रकार जब हम द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि जीव नाम-संज्ञा से सम्बन्धित होते हैं

तो एकेन्द्रिय जीवों की ओर से हमारी दृष्टि ओझल हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो-जो जड़ और चेतन नाम-संज्ञाएं हमारे सामने आती हैं, उन-उन वस्तुओं का नक्शा हमारे सामने खिच जाता है। एकेन्द्रियादि नामोदय कर्म संज्ञा से उस उस जाति में रहे हुए सभी जीवों का सामूहिक रूप में हमें बोध हो जाता है। सज्जनो ! एकेन्द्रिय नाम व्यर्थ ही नहीं हैं। ये नाम हमारे और आपके रखे हुए नहीं हैं। ये नाम संस्करण किसी कल्पना के आधार पर भी नहीं है। ये नाम कर्मों के उदय से माने गये हैं। जैसे, जिन्होंने द्वीन्द्रिय नाम कर्म बांधा है, दो इन्द्रियें प्राप्त करने योग्य कर्म बांधे हैं, उतनी कीमत अदा की है, उन्हें दो इन्द्रियां मिल गई हैं। वे नाम कर्म के उदय से ही मिली हैं। वे उन्हें किसी माता-पिता, देवी-देवता या परमात्मा के द्वारा प्राप्त नहीं हुई हैं। उन्होंने पूर्वजन्म में द्विन्द्रिय नाम कर्म उपार्जन किया था, उसके फलस्वरूप उनको दो इन्द्रियां प्राप्त हुईं। जैसा कर्म होता है, उसी के अनुरूप ही फल की प्राप्ति होती है। बैंक अथवा खज़ाने से रुपया उसी को प्राप्त होता है, जिसके पास उसके लिए चैक होता है। किन्तु चैक तो हो नहीं और रुपया लेने बैंक में जाया जाये तो उसकी जो दुर्दशा होगी, वह आप जानते ही हैं। ठीक यही बात जीव के कर्म-बंधन के विषय में है। जिस जीव ने भाव इन्द्रियां बांध ली हैं, उसने द्वीन्द्रियपने का चैक ले लिया है और इस चैक का रुपया उसे उस खज़ाने से प्राप्त हो जायेगा जहांकि उसे जाना है, उत्पन्न होना है। उसे वहीं दो द्रव्येन्द्रियां प्राप्त हो जायेंगी। आशय यह है कि जीव को इन्द्रियों रूपी धन वहीं मिलेगा जहां जिस जाति में उसको जाना है। किन्तु मिलेगा उसी को जिसने चैक प्राप्त कर लिया है। सज्जनो ! इस संसारी-

दुनियादारी के चैक में तो एक वार फर्क भी पड़ सकता है, उसका रुपया प्राप्त होने में आपत्ति भी आ सकती है, किन्तु यह निश्चय जानो कि जिसने यहां द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय नाम कर्म का चैक ले लिया है, भावेन्द्रियां बांध ली हैं, उसे उसके अनुरूप द्रव्येन्द्रियां अवश्य ही मिलेंगी। न उसमें किसी शंका के लिए स्थान है, न किसी प्रकार का उसमें परिवर्तन ही है। यह एक अटल सिद्धान्त है।

सज्जनो ! मैं आपको नाम के विषय में कहने जा रहा था। जिन जीवों ने भावेन्द्रियपने का वंध कर लिया है तो समझो कि वह चैक उन्हें मिल चुका है। इसी विषय में श्रीमद्भगवती सूत्र में श्रीगौतम ने भगवान् से प्रश्न किया है कि—'हे भगवन् ! जीव शरीर से इन्द्रिय सहित निकलता है या अनिन्द्रिय ?' उत्तर में भगवान् ने कहा है कि—'जीव किसी अपेक्षा से सेन्द्रिय निकलता है और किसी अपेक्षा से अनिन्द्रिय भी निकलता है।' गौतम ने फिर प्रश्न किया कि भगवन् ! ये दोनों वातें एक साथ कैसे हो सकती हैं ? सहित कैसे और रहित कैसे ? हां और ना तो एक दूसरे के विरोधी हैं।' किन्तु सज्जनो ! जिनको ज्ञान नहीं है उनको ही विरोध दिखता है। यह याद रखना कि भगवान् का मार्ग अनेकान्तवाद का है, एकांतवाद का नहीं। वह अनेक दृष्टियों को लेकर चलता है। एकान्तवादी कहानियों की दृष्टि में जहां केवल ना या हां ही है, वहीं पर ज्ञानियों की दृष्टि में ना भी है और हां भी है। जिनकी सीमित दृष्टि में केवल हां ही है, उनकी दृष्टि में ना के लिए स्थान नहीं है। किन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में जहां हां है वहां ना भी है। तुम लोगों को यह वात वड़ी अटपटी-सा प्रतीत होती होगी कि यदि हां है तो फिर उसी के साथ नहीं की

क्या काम और यदि नहीं है तो फिर वहां हां कैसे हो सकता है ? ज्ञानियों का कथन है कि संसार में जितने पदार्थ हैं, वे अनन्त-अनन्त धर्म को लिये हुए हैं। सज्जनो ! यहां धर्म का मतलब सामायिक, पौपधादि क्रियाएं नहीं हैं, किन्तु "वत्थु सहाओ धम्मो"—अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। हमारा ज्ञान जितना अधिक बढ़ता जाता है, उतने ही वस्तु के अधिक धर्मों को हम जानने लगते हैं। संसार में सूक्ष्म और स्थूल अनेक प्रकार के पदार्थ हैं। जिनकी दृष्टि तीव्र और स्वस्थ है, वे मोटे-मोटे पदार्थों के अतिरिक्त सूक्ष्म पदार्थों को भी देख सकते हैं। किन्तु जिनकी देखने की शक्ति क्षीण है, वे तो केवल मोटी-मोटी वस्तुओं को ही देख पाते हैं, सूक्ष्म वस्तुओं तक उनकी दृष्टि की पहुच नहीं होती।

उपरोक्त दृष्टान्त से क्या यह निर्णय निकाला जाये कि चूंकि मोटी दृष्टि वालों को सूक्ष्म वस्तुएं दिखाई नहीं देतीं, इसलिए वे सूक्ष्म वस्तुएं अपना अस्तित्व ही नहीं रखतीं ? ऐसा नहीं है। सूक्ष्म वस्तुएं तो हैं, किन्तु मोटी दृष्टि से वे दिखाई नहीं देतीं। जिनकी दृष्टि तीव्र है, सतेज है, उन्हें मोटी वस्तुओं के साथ ही साथ सूक्ष्म वस्तुएं भी दिखाई देती हैं। अतः यह निर्णय निकलता है कि दृष्टि के मोटी हो जाने से सूक्ष्म वस्तुओं का अभाव नहीं हो गया। अभाव तो सूक्ष्म और तीव्र दृष्टि का ही हुआ।

अतः यह कहा जा सकता है कि एक ही वस्तु में अनन्त-अनन्त स्वभाव स्वरूप धर्म स्थित हैं, किन्तु देखने वालों में से जिसकी दृष्टि जितनी तेज है, सूक्ष्म है, उसे उतने ही अधिक धर्म उस वस्तु में दिखाई देते हैं। मैं कह रहा था कि भगवान् का

कथन है कि—जीव इन्द्रिय सहित भी जाता है और इन्द्रिय रहित भी। भद्पुरुषो ! यहां हमें अनेकान्त द्वारा विचार करना होगा। इन्द्रियें भी दो प्रकार की हैं, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जिसने भावेन्द्रिय का उपार्जन नहीं किया उसे द्रव्येन्द्रिय भी प्राप्त नहीं हो सकतीं। अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का जो वंध पड़ता है, अथवा जैसा कि मैंने पहले कहा—चैंक मिलता है, उसे भावेन्द्रिय समझना चाहिए। भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय प्राप्त करने का साधन है, मूल है। दूसरे शब्दों में इन दोनों में वीज और वृक्ष का सम्बन्ध है। वीज के द्वारा ही वृक्ष बनता है। फिर भी वीज पृथक् है और वृक्ष पृथक् है और यह पृथक्त्व होते हुए भी दोनों में अन्योन्याश्रय संवंध है। अर्थात् वीज यदि नहीं हो तो वृक्ष न हो और यदि वृक्ष न हो तो वीज भी न हो। यह होते हुए भी वीज और वृक्ष को पृथक्-पृथक् ही माना जाता है। इसी प्रकार का संवंध भावेन्द्रियों और द्रव्येन्द्रियों का है। भावेन्द्रिय को हम वीज कह सकते हैं और द्रव्येन्द्रिय को वृक्ष। यदि भावेन्द्रिय रूप वीज न हो तो द्रव्येन्द्रिय रूप वृक्ष भी नहीं हो सकता और यदि द्रव्येन्द्रिय रूप वृक्ष न हो तो भावेन्द्रिय रूप वीज की प्राप्ति भी असंभव माननी चाहिए। अतः यह स्मरण रखना चाहिए कि द्रव्येन्द्रिय से ही भावेन्द्रिय ही प्राप्ति संभव है, क्योंकि यदि वृक्ष का ही अभाव है तो उससे उत्पन्न होने वाले वीज का भी अभाव स्वयं ही हो गया।

सज्जनो ! अभिप्राय यह है कि भावेन्द्रिय से ही द्रव्येन्द्रिय मिलती है। किन्तु भावेन्द्रिय का वंध उसी के द्वारा होता है जिसे द्रव्येन्द्रिय प्राप्त करनी होती है। आप इतना तो जानते ही होंगे कि वंध वहीं होता है जहाँ कषाय और भोग होता है। कषाय और

भोग के अभाव में भावेन्द्रिय का बंध भी नहीं होता, उसका भी अभाव हो जाता है। इसीलिए कहा है—

"नास्ति मूलं कुतः शाखा ?"

अर्थात्—मूल के अभाव में शाखा कहां से आयेगी ?

उपरोक्त कथन सर्वथा सत्य और सुन्दर है। यदि मूल ही न हो तो शाखा कहां से होगी। मुक्ति के इच्छुक पुरुषों को इस गंभीर कथन पर विचार करना चाहिए।

प्रसंग यह चल रहा था कि जीव जब परलोक में जाता है, तो उसके साथ भावेन्द्रियां ही रहती हैं। वहां जाने पर उसे अपने चैक से रुपये प्राप्त करने हैं। अर्थात् भावेन्द्रियों के बंध के अनुरूप ही उसे उस खजाने से इन्द्रिय, शरीर और प्राण आदि प्राप्त होंगे। जीव यहां से अपने साथ केवल भावेन्द्रियों को लेकर ही जाता है, द्रव्येन्द्रियों का त्याग कर जाता है। वह यहां से औदारिक, वैक्रिय और आहारिक शरीर से रहित होकर जाता है। सज्जनो ! संसार में कोई भी प्राणी इन तीन शरीरों को अपने साथ लेकर नहीं जाता है। देवता और नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च, जिन-जिन प्राणियों में भी उपरोक्त वैक्रियादि शरीर पाये जाते हैं, वे उन्हें त्याग कर ही परलोक को जाते हैं।

इस स्थान पर यह प्रश्न होता है कि फिर जीव अपने साथ कौन-सा शरीर ले जाता है ? भद्रपुरुषो ! उत्तर यह है कि जीव अपने साथ तैजस और कार्मण शरीर ही ले जाता है। जो भी जीव इस लोक से परलोक को जाता है, वह अपने साथ वहां उत्पन्न होने की गति का चैक ले जाता है और निश्चित स्थान से,

खज़ाने से उस चैक का रुपया प्राप्त करता है। कोई भी जीव छः बोल बांधे बिना अपने वर्तमान शरीर को खाली नहीं करता। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों को छः बोल की आवश्यकता होती है। अगले जन्म से भी जीव अपने वर्तमान जीवन में छः बोलों का बंध बांधकर लाया था। उन्हें यहां भुगत कर फिर भविष्य जन्म के लिए वह छः बोलों का बंध बांधता है। इसी बंध के परिणामस्वरूप उसे अगले जन्म के चैक के लिए चैक प्राप्त होता है। छः बोल ये हैं—गति, जाति, स्थिति, अवगाहना, अनुभाग और प्रदेश।

सज्जनो ! सनातन धर्म में मृत्यु के उपरान्त गरुड़ पुराण सुनाया जाता है। उसमें जीव की गति और कर्म के विषय में बताया गया है कि ऐसा कर्म करने से ऐसी गति में और ऐसा कर्म करने से ऐसी गति में जीव जाता है। उसी गरुड़ पुराण में एक स्थान पर यह लिखा है कि मरने के बाद जीव को कहीं घूमने की आवश्यकता नहीं रहती। त्रणजलोक की तरह, जोकि एक सुडियालट नाम वाला द्वीन्द्रिय प्राणी है, जिसके केवल शरीर और मुंह ही होते हैं और वह लट अपने शरीर का पिछला हिस्सा तभी उठाती है जबकि पहले अगले हिस्से को स्थान प्राप्त हो जाये, इसी तरह जीव भी दूसरे जन्म की प्राप्ति के निश्चित होने पर ही पहले जन्म से छूटता है। इस उदाहरण से उन स्वार्थी ब्राह्मण पंडितों की बात सर्वथा खंडित हो जाती है जो यह कह-कहकर भोले और अज्ञानी जीवों को भ्रम में डालते हैं कि अमुक-अमुक समय तक तुम्हारे पूर्वजों को चोला प्राप्त नहीं होगा।

सज्जनो ! यह कितनी पापमय और त्याज्य बात है ? पितृतर्पण, श्राद्ध आदि करा कर अपने स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए

भोले जीवों को असत्य बातें कहना यदि पाप नहीं हैं तो फिर और क्या हो सकता है ? इस प्रकार का कथन सर्वथा असत्य है। किन्तु अज्ञानी जीव इस असत्य कथन के भीतर के रहस्य को जान नहीं पाते और जैसी भी उल्टी-सीधी बातें पंडित कहते हैं, वे करते चले जाते हैं। दान, दक्षिणा, भोजन, वस्त्रादि से उन पंडितों का घर भरते हैं और स्वयं अंधकार में डूबे रहते हैं।

किन्तु आप लोग यह अच्छी तरह याद रखें कि इन उपरोक्त मिथ्या कल्पनाओं का आत्मा के साथ कोई संबंध नहीं है। आप स्वयं ही एक सीधा सा उदाहरण देखिये और बताइये कि क्या यदि ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी आदि तो एक व्यक्ति को दी जाये और इच्छा यह की जाये कि इमारत किसी अन्य व्यक्ति की बन जाये तो क्या यह संभव है ? मैं मानता हूं कि यह कभी संभव नहीं है, आप यदि इसके विपरीत विचार रखते हों तो वह आप जाने। किन्तु उन्हीं पंडितों के गरुड़ पुराण में यह लिखा है कि जीव का तब तक शरीरान्त या प्राणान्त नहीं होता जबतक कि अगले गति-रूप शरीर को जमाने के लिए उसका स्थान निश्चित नहीं हो जाता---ठीक उस त्रणजलोक लट के समान, जिसका वर्णन मैंने अभी-अभी ऊपर किया है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा को एक-एक वर्ष तक बिना कोई शरीर धारण किये इधर-उधर भटकते रहने की बात सर्वथा निर्मूल और असत्य सिद्ध हो जाती है। यह कल्पना ही भ्रान्तिमूलक और गलत है। सत्य तो यह कि जिस पल जीव यहां प्राण-त्याग करता है, उसी पल वह दूसरे स्थान पर नया शरीर धारण कर लेता है। किन्तु यहां तो लोभी व्यक्तियों ने जीव को कुछ कम भी नहीं, पूरे एक साल तक भटका दिया है। इस असत्य कल्पना और प्रवंचना की दुहाई है।

आप लोग भी जब चलते हैं तब पिछला कदम तभी उठाते हैं जबकि पहला कदम पहले स्थिर कर लेते हैं। यदि इसके विपरीत आपका आचरण हो जाये तो संभवत: बतीसी का ही ठिकाना न रहे।

गीता उन्हीं पंडितों का धर्म-ग्रन्थ है। उसी में यह लिखा है कि दूसरा पैर पहला पैर जम जाने पर ही उठाया जाता है। इसी तरह वर्तमान जन्म तब ही छोड़ा जाता है, जब अगला जन्म-स्थान निश्चित हो जाता है। जब उन्हीं के धर्म-ग्रन्थ में यह बात स्पष्टता से लिखी हुई है तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि संदेह के लिए स्थान कहां रह जाता है। प्रत्येक धर्म में जो महापुरुष हुए हैं, वे सबके शुभचिन्तक और हितैषी हुए हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है वह भावी पीढ़ी के रक्षण की दृष्टि से ही कहा है। अतएव यह मानना चाहिए कि जैन सिद्धान्त या गरुड़ पुराण से और गति के सिद्धान्त से जीव की जन्म-संबंधी इस शंका का समाधान हो गया।

सज्जनो! जैन सिद्धान्त यह कहता है कि जबतक यह जीव आगे जाने वाली छ: बातों को नहीं बांध लेता है, तब तक अपने पहले वाले शरीर का त्याग नहीं करता है। जीव पहले अपनी गति को बांधता है, अर्थात् इस जन्म के बाद उसे जिस स्थान पर जन्म लेना है— नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देव गति, उस स्थान पर जन्म लेने के उपयुक्त कर्म वह पहले ही बाँध लेता है। इस भविष्य की आयु का बंध जीव द्वारा अपनी पहिली आयु के तीसरे भाग में कर लिया जाता है। इस प्रकार करते-करते जब प्राप्त आयु में अन्तर्मुहूर्त्त समय रह जाये उस समय तो वह अपने अगले जन्म की आयु

बांध ही लेता है। जैसे आपको यदि कहीं बाहर जाना है, तो आप अपनी यात्रा के लिए टिकट चार दिन पहले भी ले सकते हैं और यदि ऐसा न हो सके तो गाड़ी के छूटते-छूटते भी आप टिकट ले सकते हैं। किन्तु टिकिट तो लेना ही होता है। उसके बिना विदाउट टिकट (without ticket) यदि यात्रा की जाये तो टी० टी० आकर आपसे पिछले जंकशन से लेकर डबल चार्ज करेगा।

खेद की बात है कि आजकल बिना टिकट सफर करने वाले यह कहते हैं कि अब तो भारत स्वतन्त्र है, हमें टिकट लेने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु ओ बिना टिकट यात्रा करने वालो ! तुम लोग हो तो देश की आत्मा हो, प्राण हो। देश के उत्थान और पतन की सम्पूर्ण ज़िम्मेदारी तुम्हीं लोगों पर है। भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद तो तुम्हारी ज़िम्मेदारी और भी अधिक बढ़ गई है। विदेशियों की दृष्टि में तुम लोग प्रामाणिक नागरिक हो। अपने इस सम्मानपूर्ण स्थान को तुम स्वयं ही रक्षा करो। उनकी दृष्टि में स्वयं को अप्रामाणिक सिद्ध न होने दो ! अपनी प्रामाणिकता का परिचय देते हुए तुम्हें अब तो और भी अधिक ईमानदार होना चाहिए। तुम समझते होगे कि तुम केवल सरकार को ही धोखा दे रहे हो। किन्तु यह नहीं जानते कि सरकार को धोखा देने के साथ ही साथ तुम अपने आपको भी धोखा दे रहे हो। इस धोखेबाज़ी से तुम यहां तो दंडित होओगे ही, किन्तु यह भी निश्चय जानो कि आगे भी तुम्हें इसका दंड अवश्य प्राप्त होगा। किसी भी उपाय द्वारा उससे बचा नहीं जा सकता।

अतः यह तुम्हारा और प्रत्येक भारतीय नागरिक का कर्त्तव्य है कि सरकार को समृद्धिशाली और मजबूत बनाने का प्रयत्न किया

जाये। भारतीय जीवन की उन्नति इसी बात पर निर्भर है। यह राष्ट्र तभी विकसित हो सकता है और फल-फूल सकता है जबकि प्रत्येक भारतीय प्रामाणिकतापूर्वक अपना प्रत्येक कर्त्तव्य पूरा करे और किसी भी प्रकार सरकार को धोखा देने का प्रयत्न न करे। लेकिन देखा जा रहा है कि आप लोगों ने तो अपने राज्य का उल्टा ही अर्थ निकाल लिया है। उदाहरण के लिए एक मौलवी साहब थे। जब वे मुसलमानों को शराब पीते हुए देखते थे तो उनको बहुत बुरा लगता था। बुरा लगने का कारण यह था कि कुरानशरीफ में शराब पीना, ब्याज लेना, सुअर की बलि देना और चोरी किये हुए पशु की बलि देना—ये बातें बुरी बताई गईं हैं। इन कामों के करने से खुदा की पूजा नहीं बल्कि अपमान होता है। अर्थ यह है कि हराम का माल तो खुदा को भी हज़म नहीं हो पाता, फिर उसी खुदा के बन्दे होकर तुम लोग कैसे इन्हें हजम कर जाते हो! यही सोचकर वे मौलवी साहब लोगों को बहुत समझाते और माथापच्ची करते किन्तु उनकी बात कोई नहीं मानता था। लोग उनकी कही हुई बात से उल्टा ही काम करते थे। संसार का आज यही हाल है। सच्ची शिक्षा देने वाला व्यक्ति हमें अपना दुश्मन प्रतीत होता है। उर्दू के एक शायर ने लिखा है :—

"नसीहत मत करे नासा मेरा दिल घबराय है
जो मुझे नसीहत करे दुश्मन नज़र वह आय है।"

शिक्षा देने वाला तो भले की ही शिक्षा देता है और हित की ही बात कहता है, किन्तु जिसके बुरे दिन आते हैं उसपर किसी भी शिक्षा या आदेश का कोई असर नहीं होता।

कहा जाता है कि पंडितों की पंडिताई और ज्ञानियों का ज्ञान भी उपयुक्त पात्र मिलने पर ही काम आता है। सीधी-सी बात

है कि वीज नये-नये अंकुर पैदा करता है और उससे बड़े-बड़े फलदायी वृक्ष बनते हैं। किन्तु यह भी तभी संभव होता है जबकि वीज को उर्वरा और अच्छी भूमि मिले। उसके विपरीत यदि वीज तो अच्छा हो किन्तु ज़मीन खराव मिले तो वह बीज ही नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार शिक्षा देने की बात है। शिक्षा अच्छी हो, हित की हो और उससे व्यक्ति के अनन्त कल्याण की संभावना हो, किन्तु अज्ञानी और मूर्ख व्यक्ति उसका उल्टा ही अर्थ निकाल कर अपना हित करने के स्थान पर अहित ही कर लेते हैं। यही वात हम गृहस्थ और साधुओं पर घटित कर सकते हैं। साधू गृहस्थ के हित के लिए अनेक सदुपदेश देते हैं। किन्तु यदि गृहस्थ योग्य न हो और अपना हित न चाहे तो फिर उसका कोई इलाज ही नहीं।

एक कथा है। एक स्थान पर गुरु और शिष्य ठहरे हुए थे। शिष्य गोचरी के लिए गये और उन्हें एक गृहस्थ के घर ताज़े बने हुए ३२ बड़े मिल गये। मौसम शीतकाल का था। बड़े एकदम गरमागरम थे। शिष्य के मन में लोभ उत्पन्न हुआ। उसने सोचा कि जव तक मैं ये बड़े गुरु महाराज के समीप तक ले जाऊंगा तव तक ये ठंडे हो जायेंगे। मेरे हिस्से के आधे बड़े गुरु महाराज मुझे देंगे ही। तव क्या वुराई है यदि मैं अपने हिस्से के आधे बड़े यहीं खा लूं? यह विचार कर उस सरलपरिणामी शिष्य ने १६ बड़े वहीं खा लिये। बड़े अत्यन्त स्वादिष्ट और ज़ायक़ेदार थे। शिष्य को वहुत मजा आया। उसने फिर सोचा कि बिचारे गुरु महाराज को यह क्या पता कि बड़े कुल कितने मिले थे। वे तो यही विचार करेंगे कि बड़े १६ हैं और उसमें से आधे वे मुझे देंगे ही। तो फिर मैं उनमें से अपने हिस्से के बड़े यहीं क्यों न

खा लूं ? ऐसा विचार करके ८ वड़े और खा लिये। इस प्रकार उसके पास ३२ वड़ों में से अब ८ वड़े शेष बचे। वह कुछ ही दूर और गया होगा कि उसकी भावना में फिर परिवर्तन हुआ। जीभ के स्वाद ने फिर ज़ोर मारा। उसने विचार किया कि गुरु जी तो बड़े दयालु हैं, अपने शिष्य पर उनका असीम प्रेम है और उसी प्रेम के नाते इन आठ वड़ों में से भी आधों पर वे मेरा हक समझेंगे और अवश्य ही मुझे मेरा हिस्सा देंगे। तब फिर व्यर्थ ही इन्हें ठंडा करने से क्या लाभ ? मैं इन्हें यहीं क्यों न खा लूं ? यह विचार करके उसने चार वड़े और खा लिये।

सज्जनो ! एक बार जो व्यक्ति स्वाद के वश में हो जाये, क्या वह फिर उससे सहज ही मुक्त हो सकता है ? वह बेचारा शिष्य भी इसका अपवाद न रह सका। वड़ों का स्वाद और चटपटापन उसके मुंह में बार-बार पानी ला रहा था। उससे रहा नहीं गया और वह भोला शिष्य दो बड़े और खा गया। इन वड़ों में से अब दो ही शेष बच रहे थे। किन्तु शिष्य की तृप्ति तो अब भी नहीं हुई। सच ही है, लालसाओं की कभी तृप्ति होती ही नहीं है, उनका कहीं भी अन्त नहीं है। अतः उसने फिर सोचा कि कुछ भी हो, गुरु जी इन दो वड़ों में से एक मुझे अवश्य ही देंगे और यह सोच कर वह एक और वड़ा भी खा ही गया। अब उसके पास केवल एक ही वड़ा बच रहा था। उसने विचार किया कि यह तो मेरा धर्म नहीं है कि मैं जो कुछ भी आहार गृहस्थ के यहां से लाया हूं, वह गुरु जी को दिखाऊं भी नहीं। यदि नहीं दिखाऊंगा तो मैं गुरु का गुनहगार कहलाऊंगा। अतः वह उस एक वड़े को लेकर गुरु के पास पहुंचा। गुरु जी की वंदना कर जो कुछ आहार

वह लाया था सो उसने उनके सन्मुख रख दिया। गुरु जी ने ज्योंही पात्र में केवल एक बड़ा देखा तो वे आश्चर्यान्वित हो गये। उन्होंने शिष्य से पूछा कि अरे! तुझे ऐसा कौन दातार गृहस्थ मिला कि जिसने तुझे केवल एक ही बड़ा बरहराया? यह प्रश्न किये जाने पर उस स्वच्छ हृदय वाले शिष्य ने, जोकि कपट करना नहीं जानता था, यद्यपि मूर्ख था, सहज भाव से उत्तर दिया :—

गुरु जी। बड़े तो मुझे कुल बत्तीस मिले थे। किन्तु इस रसना के वशीभूत होकर मैंने राह में आधे-आधे करते-करते ३१ खा लिये और अब यह एक ही शेष बचा है, जो मैं आपकी सेवा में ले आया हूं।

यह सुनकर गुरु जी ने कहा, "अरे दुष्ट। तूने मुझे बताये बिना ही बड़े कैसे खा लिये? तब शिष्य ने सहजभाव से उस अवशिष्ट एक बड़े को भी उठाकर अपने मुंह में रखते हुए कहा—गुरुजी! ऐसे।

सज्जनो। वह शिष्य कितना निष्कपट था। साथ ही कितना सरल परिणामी था। किन्तु था वह मूर्ख, बेसमझ और नादान ही। किन्तु भद्रपुरुषो। पहले तीर्थंकर के समय के साधू होते भी ऐसे ही हैं जोकि हृदय के शुद्ध, स्वच्छ और सरल होते हुए भी मूर्ख होते है। जबकि अन्तिम तीर्थंकर के साधू वक्र और जड़ होते हैं अर्थात् न उनमें सरलता ही होती है और न विशेष समझ ही होती है। इस प्रकार उनमें दोहरी बुराई होती है। वे कपट सहित बातें भी करते हैं और मूर्ख भी होते हैं। प्रथम तीर्थंकर के समय के साधू बात जैसी हो वैसी हो सहज भाव से कह देते हैं। वे उसमें हेराफेरी, तूबाफेरी और गोलमाल करना नहीं जानते। इसके विपरीत पांचवें

तीर्थंकर के साधू प्रायः हृदय के साफ भी नहीं होते । बातें भी सीधी तरह नहीं करते और सरल बात को भी आसानी से समझते नहीं । किन्तु बीच के बाईस तीर्थंकरों के साधू शुद्ध और सरल हृदय वाले तथा बुद्धिमान् थे ।

अस्तु, सज्जनो ! मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ लोग ऐसे जड़मति होते हैं कि उन्हें समझाना ही असंभव होता है । यदि कोई उन्हें समझाने का प्रयत्न करता है और उनके हित की शिक्षा देता है तो वह व्यक्ति उसे अपना दुश्मन नज़र आता है । वह यही सोचता है कि इस उपदेशक का कब टिकट कटे और मेरा पिंड छूटे। इसी प्रकार यदि किसी बेटे को उसके माता-पिता उसके हित की बात समझाते हैं तो वह कपूत बेटा यही सोचता है कि बुड्ढे कब मरें और कब मैं स्वतन्त्र हो जाऊं । किन्तु वह मूर्ख यह नहीं जानता कि बड़े-बूढ़ों की कृपा से ही तो अकल आयी है । यदि नसीहत देने वाला, मार्ग-प्रदर्शन करने वाला भी किसी को अपना शत्रु नजर आता है तो यह उसकी भाग्यहीनता नहीं तो फिर और क्या है ? यदि सत्य बात कहने पर भी कोई उसे असत्य माने और जानबूझकर, आँखें होते हुए भी उन्हें बन्द रखकर कुंए में पड़े तो इसमें उपदेशक का क्या दोष है ? दोष तो उसके भाग्य का ही समझना चाहिए ।

हाँ, तो प्रसंग यह चल रहा था कि वे बेचारे मौलवी साहब मुसलमानों को हर तरह से प्रयत्न कर करके यह समझाते थे कि "देखो, शराब पीना अच्छा नहीं है । इससे अपने दीन और ईमान में फर्क आता है ।" किन्तु मौलवी साहब कितना भी क्यों न समझाएँ कितना भी क्यों न बकें, सुनने वालों के कानों पर जूं तक रेंगने

वाली नहीं थी। आखिर वे हैरान और परेशान हो गये और सोचने लगे कि इस तरह मैं एक-एक काफिर को कहाँ तक समझाऊँ, अपना मगज मारूं ?

एक दिन एक मेला भरा। उस मेले में हजारों की संख्या में मुसलमान सम्मिलित हुए। मौलवी साहब को अवसर मिला। उन्होंने सोचा कि एक-एक को अलग-अलग समझाना तो कठिन है। यह सोचकर वह मेले में गये और वहां जाकर शराब के ठेके की दूकान पर बैठ गये। उन्होंने सोचा कि मुझे शराब पीने वालों की शराब ही तो छुड़ानी है। जब लोग मुझे यहां बैठा हुआ देखेंगे तो शर्म के मारे स्वयं ही यहाँ पीने नहीं आयेंगे।

किन्तु सज्जनो ! क्या मौलवी साहब की यह तरकीब कारगर हुई ? नहीं। इसका उल्टा ही परिणाम निकला। शराब पीने वालों ने ज्योंही मौलवी साहब को शराब की दूकान पर बैठे हुए देखा, वे आपस में कानाफूसी करने लगे कि देखो, अब तो ये मौलवी साहब भी हमारी जमात में शरीक हो गये हैं। अब इनसे शर्माने की क्या आवश्यकता ? बस, फिर क्या था, वे लोग बेधड़के शराब की दूकान पर आने लगे, बोतलों पर बोतलें खाली करने लगे। कोई कोई मसखरा तो यहां तक मस्त हुआ कि शराब का प्याला मौलवी साहब को दिखा-दिखा कर कहने लगा कि मौलवी साहब ! हमें अजहद खुशी है कि अब आप भी हमारी जमात में आ मिले हैं। यह माजरा देख मौलवी साहब बेचारे बड़े पशोपेश में पड़े कि कहां तो मैं इन लोगों को शराब पीने से रोकने आया था और कहां यह बात ही उल्टी हो गई कि शराब पीना छोड़ना तो दूर, ये बेधड़क हमेशा से अधिक शराब पी रहे हैं और साथ

ही मुझे भी शराबी समझ रहे हैं। सच ही है, मूर्खों को उपदेश देना और उनकी संगति में बैठना भी एक गुनाह है। मैं भी यही कह रहा था कि मूर्खों को हित की बात समझाना, उपदेश देना और सत्य बात बताना निरर्थक है, क्योंकि वे उन बातों का सदा ही उल्टा अर्थ लगाते हैं।

सज्जनो ! शास्त्रों के श्रवण से, ज्ञानियों की सेवा से एवं सुन्दर पुस्तकों के पठन-पाठन और अध्ययन से अनेक बातें स्पष्ट होकर सुलझ जाती हैं। व्यक्ति के मस्तिष्क की अनेक भ्रान्तियां मिट जाती हैं और उसके समक्ष वस्तु का यथार्थ, सत्य स्वरूप प्रकट हो जाता है। तत्व की बात यह है कि जहां से भी मिले, हमें गुण को ग्रहण करना चाहिए। धर्म और जाति के भिन्न-भिन्न नामों की चिन्ता न करके हमें संकीर्णता से कुछ ऊपर उठना चाहिए और अपने ज्ञान से सत्य को प्रकाशित करना चाहिए। मैंने अभी आपके समक्ष गरुड़ पुराण की चर्चा की थी, गति का हवाला दिया था और जैन सिद्धान्त की अनेक बातों से उनका मेल बताया था। तो हमें यहां यह नहीं देखना चाहिए कि धर्म कौन-सा है और ग्रंथ किस धर्म का है। यह भी विचार नहीं करना चाहिए कि धर्मोपदेष्टा किस जाति का है। किन्तु हमें तो सत्य की खोज करनी चाहिए, गुण-ग्रहण करना चाहिए। चरित्र से बड़ी कोई चीज़ नहीं है। व्यक्ति कोई हो, किन्तु चरित्र उसका यदि पवित्र है तो हमें उसको पूजा करनी चाहिए। एक उर्दू के शायर ने कहा है :—

"सीरत के हम गुलाम हैं, सूरत हुई तो क्या।
सुरखो-सफेद मिट्टी की मूरत हुई तो क्या॥"

इस कथन का आशय है कि हम केवल रंग, रूप और सौंदर्य के ही पुजारी नहीं हैं। हम तो यदि पुजारी हैं तो गुणों के। अर्थात

मनुष्य-जन्म पाकर हमें अपने गुणों का विकास करना चाहिए, चरित्र की उन्नति की चिन्ता करनी चाहिए। उसके अभाव में हमारा सारा सौंदर्य व्यर्थ है। वह व्यक्ति जो सूरत-शकल में तो सुन्दर हो किन्तु चरित्र से हीन हो, उसकी उपमा उस सोने-चांदी के सुन्दर वर्तन से दी जा सकती है जो देखने में सुन्दर होते हुए भी भीतर गन्दगी से भरा हो। ठीक उसी प्रकार हमारा शरीर तो मिट्टी की मूर्त्ति है। इसको शोभा गुणों से ही है।

इस काया को, जोकि मिट्टी से ही निर्मित है, कोई कितना भी संभाल कर क्यों न रक्खे, आखिर यह मिट्टी में ही मिल जायेगी। किसी फारसी के शायर ने इस विषय में बड़ी ही सुन्दर बात कही है :—

"मादर जिसे उर्यां नहीं करती तहे अफलाक अब कब्र में सोता है
घरी रहती है पोशाक।
और भी आराम जिसे देते थे, छाती पै 'सुलाकर'
धर आते हैं हाथों से उसे कब्र में जाकर॥"

वह बच्चे की शुभचिन्तक माता, जो प्रतिक्षण बालक की चिन्ता किया करती थी, उसे हमेशा कपड़ों से ढके रखती थी कि कहीं उसे सर्दी न लग जाये, कभी उसे नंगा नहीं रहने देती थी, उसी के बालक की वह सारी पोशाक अब केवल खूंटी पर टंगी रह गई और वह बालक नग्न होकर हमेशा के लिए कब्र में सो गया। उसका वह सुन्दर और कोमल शरीर मिट्टी में मिल गया। एक समय था जब माता उस बालक के किसी भी अंग पर तनिक सी भी मिट्टी नहीं लगने देती थी। किन्तु आज तो उसका वह

शरीर मिट्टी ही बन कर रह गया है। जो भाई, पिता अथवा अन्य कुटुम्बीजन उसको हर तरह का आराम देते थे, वे ही उसे चुपचाप कब्र में रख कर चले आते हैं। उस शरीर में जब तक प्राण थे, उसे छाती से लगाकर रक्खा जाता था। किन्तु प्राण निकलने के बाद, उसे मिट्टी में दफना कर और उसपर सैकड़ों मन मिट्टी डालकर चले आते हैं।

सज्जनो ! समय बलवान् है और वह कभी स्थिर नहीं रहता। समय आता है और चला जाता है। किन्तु वह बात, जो मनुष्य करता है, शेष रह जाती है। यह जीवन, यह स्वर्ण-अवसर बार-बार मिलने वाला नहीं है। इस मनुष्य देह को पाकर जितना संभव हो और जहां से संभव हो, हमें अपने गुणों का विकास करना चाहिए। कहा है :—

"उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय।
परम अपावन ठौर में कंचन तजै न कोय॥

सोने की डली चाहे कितनी भी गंदी जगह पर क्यों न पड़ी हो, उसे कोई नहीं छोड़ता। तो फिर क्या हमें अच्छी-अच्छी बातों को, गुणों को, जहां से भी वे प्राप्त हो सकें, ग्रहण नहीं करना चाहिए ? सज्जनो ! अच्छी बातों को, चाहे वे किसी भी ग्रंथ में हों, किसी भी धर्म में हों, किसी भी व्यक्ति में हों, हमें अवश्य ग्रहण करना चाहिए। प्राचीन अनुचित परम्पराओं और कुरीतियों के जाल से निकल कर हमें अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाना चाहिए, तभी कल्याण संभव है। इस प्रसंग पर यदि मैं आप लोगों में प्रचलित एक कुरूढ़ि की ओर आपका ध्यान आकर्षित करूं तो

असंगत न होगा। वह कुरूढ़ि है मोसर करना, अर्थात् मर जाने के बाद न्यात को जिमाना। आप इस कुरूढ़ि के शिकार इसलिए हैं कि आपको भी तो आरम्भ ही से इन स्वार्थियों और लोभियों द्वारा वही घुट्टी पिलाई गई है और उसका असर आपकी नस-नस में व्याप्त है।

सज्जनो! इन व्यर्थ की बातों में विश्वास करने वाले समझते हैं कि मरने वाले को तभी शांति मिलेगी जब ब्राह्मणों को और न्यात को माल खिला दिया जायेगा। कितना अज्ञान है! ये भोले-भाले व्यक्ति यह भी नहीं सोचते कि क्या जिसने अपने जीवन-काल में सामायिक, पौषध, तपस्या और धर्म-क्रियाएं की हैं, वह भी न्यात को जिमाने तक राख में ही लोटता रहेगा? इस प्रकार का उपदेश देने वाले लोभी पंडितों को धर्म के नाम पर अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए जन-समुदाय में भ्रान्तियाँ फैलाने के अतिरिक्त और काम ही नहीं है। दिवंगत आत्मा को तो जहाँ जाना था, वहाँ वह चली गई। किन्तु अज्ञानी लोग अनेक प्रकार के भ्रमों में पड़कर अपना और समाज का अहित करते हैं।

भद्र पुरुषो! जीव परलोक में जाने से पहले ही वहां का गति-रूप टिकट प्राप्त कर लेता है। फिर वह यहां से रवाना होता है। गति के बाद जाति का नम्बर आता है अर्थात् जिस एकेन्द्रियादि जाति में जाकर उस जीव को उत्पन्न होना है, उस जाति का बंध भी पहिले ही कर लेता है। जितनी आयु उसे वहां भोगनी है, उसका बंध भी वह यहीं कर लेता है। अवगाहना रूप नक्शा भी यहां से मन्जूर कराया जाता है, जैसे कि बिल्डिंग बनना आरम्भ होने से पूर्व उसका नक्शा बनाया जाता है। इसके साथ ही अनुभाग,

अर्थात् कर्मों का रस, यानी इस भव में जीव ने जो दुःख-सुखमय कर्म वांधे हैं, उसके अनुरूप सुख-दुःखमय रस भी जीव यहीं से ले जाता है। इस जन्म में जीव जैसे भी रूखे या चिकने कर्म वांधेगा, अगले जन्म में उसको वैसा ही फल प्राप्त होगा। अन्त में यही वात प्रदेश के संवंध में भी है कि इसे भी जीव यहीं से वांध कर ले जाता है। कोई कर्म वर्गणा थोड़े परमाणुओं से और कोई विशेष परमाणुओं से वनी हैं। किन्तु होती वे अनन्त-प्रदेशी ही हैं। जीव उनको भोगता है। इस प्रकार इन छः वातों के विना कोई भी जीव इस लोक से परलोक नहीं जाता है।

तो इस समय कर्मों के विपय में विचार चल रहा है। एक नाम होता है और दूसरा नामी। यदि नाम होगा तो नामी भी होगा और नामी होगा तो नाम भी अवश्य होगा ही। ये दोनों ही एक-दूसरे के सूचक हैं। और नाम भी दो प्रकार के वताये गये हैं। एक तो कर्मोदय से नाम होता है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक—त्रस—स्थावर; सूक्ष्म-वादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, नरक—तिर्यंच, मनुष्य और देवादि नाम कर्मों के उदय से होते हैं। जव तक कर्म रहता है, तव-तक कर्मोदय नाम रहता है। जवतक कर्म नष्ट नहीं हो जाता तव-तक किसी भी प्रकार यह नाम मिट नहीं सकता। दूसरा नाम होता है गुणसम्पन्न। जीव, आत्मा, सिद्ध, बुद्ध, अमर, अजर, अविनाशी, निरंजन, निराकार, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि-आदि ये सव नाम पर-मात्मा के हैं। किन्तु ये नाम किसी कर्म के उदय से नहीं हैं। ये तो गुणसम्पन्न नाम हैं। सिद्ध उसे कहते हैं जिसके सव कर्म सिद्ध हो गये हों। वुद्ध उसे कहते हैं जिसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया हो। अजर वह है जिसका वुढ़ापा समाप्त हो गया हो। अमर वह जिसकी मृत्यु ही समाप्त हो गई हो। इसी प्रकार अविनाशी

वह जो कभी नष्ट न हो सकता हो। तो ये सब परमात्मा के नाम गुणों के कारण ही रक्खे गये हैं।

मैं पहले बता चुका हूँ कि नाम भी तीन प्रकार के हैं—यथार्थ नाम, यानी वस्तु जो हो उसमें गुण भी वैसे ही हों। जैसे नाम तो हो विजयकुमार, लेकिन यदि कहीं ज़रा-सी पूंछ भी हिलती देखले तो लंगोटी सम्हालना कठिन हो जाये। इसी तरह नाम तो हो रूपचन्द, किन्तु शकल कोयले से भी काली हो, तो कहा जायेगा कि यथार्थ नाम नहीं है। यह तो अयथार्थ नाम हुआ। हां यथार्थ नाम वह कहलाता है जैसे, भगवान् शांतिनाथ। यहां किसी ने प्रश्न किया कि शांतिनाथ नाम क्यों रक्खा ? तो उसका सहज उत्तर भी प्राप्त हो गया कि :—

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टि महिड्ढिओ।
संति संतिकरे लोए पत्तोगइ मणुत्तरं।

उत्तराध्ययनसूत्र अध्य० १८ गाथा ३८वीं

सज्जनो ! शान्तिनाथ भगवान् ने छः खंड का चक्रवर्ती राज्य किया और बाद में दीक्षा अंगीकार कर चतुर्विध संघ की स्थापना की। किन्तु अपने शान्तिनाथ नाम को तो गर्भावस्था में और जन्मोपरान्त भी महामारी की भयंकर बीमारी का निवारण करके सार्थक कर दिया। आजकल के जमाने में तो प्रायः अर्थशून्य और निरर्थक नाम रख दिये जाते हैं जिन्हें कि अयथार्थ नाम ही कहा जा सकता है। नाम तो रखने को रख दिया शान्तिलाल, किन्तु वह मां का सपूत प्रतिदिन घर में क्लेश करता है तो निश्चय ही वह अपने नाम को लजाता है।

भद्रपुरुषो ! यदि हमें किसी ने सच्चा मार्ग, सच्चे भाव और आत्मकल्याण का रास्ता दिखाया है तो वह यथार्थ नाम वाले तीर्थ-

कर भगवान् ने और अरिहन्तों ने ही बतलाया है। उसके बाद उसी मार्ग का प्रदर्शन उन्हीं अरिहन्तों के वचनों के द्वारा हमारे धर्मगुरुओं ने किया है। इनके सिवाय सन्मार्ग दिखाने वाला सच्चा धर्म प्रवर्तक और है भी कौन ? आजकल सच्ची बात कहने वाले भी थोड़े हैं और सुनने वाले भी विरले हैं। एक देवी ने पति की अनुपस्थिति में अर्थात् जब उसके पति प्रदेश गये हुए थे, आंखों में सुरमा डाला। उसके बच्चे ने यह सुन रक्खा था कि जब पति बाहर हों तो स्त्रियों को सुरमा नहीं डालना चाहिए। जब बच्चे ने अपनी मां की आंखों में सुरमा देखा तो उसने अपनी मां से कहा कि मां, मां, एक बात कहूं ?

माता ने बड़े दुलार से कहा—हां, हां बेटा कहो क्या बात है।

तब बच्चे ने मां से कहा कि—जब बापू जी बाहर गये हुए हैं तो आपने अपनी आंखों में सुरमा क्यों डाला है ? बस इतना सुनना था कि मां बच्चे को मारने के लिए उसके पीछे दौड़ी। सज्जनो ! बच्चे ने सत्य बात ही कही थी। किन्तु दुनियां तो सत्य बात को सुनना भी नहीं चाहती और उसे सहन भी नहीं कर सकती। किन्तु सच जो कुछ भी हो उसे कहने में किसी को संकोच नहीं करना चाहिए। क्या हम किसी प्रकार के लोभ में या भय में आकर सत्य का गला घोंट दें ? यह सर्वथा अनुचित है। ऐसा हरगिज नहीं होना चाहिए। उस लोभी मनुष्य का क्या विश्वास किया जा सकता है जो लोभ के कारण सत्य का ही गला घोंट दें। हमारा कर्त्तव्य है कि हम ऐसे अज्ञानी लोगों को बराबर सन्मार्ग का प्रदर्शन करें। यह कार्य दृढ़ निश्चय के अभाव में सम्पूर्ण नहीं हो सकता। दृढ़ निश्चय वाला ही सच्चे मार्ग का प्रदर्शन कर सकता है।

सज्जनो ! इतनी जिम्मेदारी लेकर ही मैं सच्ची बात कहता चला जा रहा हूं और कहता चला जाऊंगा । मैं खुशामदी भक्तों की भक्ति के वश होकर अपने ध्येय से पीछे नहीं हटूंगा । कई वर्षों से मेरा चातुर्मास प्रायः वहीं होता है, जहां सम्प्रदायवाद की प्रचुरता रहती है । रतलाम भी सम्प्रदायवादी क्षेत्र था, किन्तु मेरा चौमासा वहां हुआ और परिणामस्वरूप वहां सुव्यवस्थित संगठन हुआ । सामाजिक चराचर सम्पत्ति वहां की सब सम्प्रदायों की एक हो गई और वहां पर चार सम्प्रदाय थे । उनका एकीकरण हो गया, वे आपस में सुसंगठित हो गये और एक ही संघ बन गया । वहां के संघपति सेठ नाथ बड़े समझदार और संघठन किए हुए हैं । कोई व्यक्ति इस प्रकार के होते ही हैं । रतलाम में मुझे पूरे अनुशासन से काम लेना पड़ा । रतलाम में रात्रि को कुछ लोग बैठे थे, कुछ धर्म चर्चाएं चल रही थीं, एक वहीं के जवाहरलाल जी सेठ भी बैठे थे जिन्होंने पूज्य श्री उदे सागर जी, पूज्य श्री श्रीलाल जी और पूज्य श्री जवाहरलाल महाराज आदि बड़े आचार्यों की सेवा की थी, वे वहुत होशियार थे, शीघ्र खुलने वाले नहीं थे । वे बोले कि महाराज ! चातुर्मास तो वहुत हुए हैं । किन्तु इस चातुर्मास में मैंने एक नई बात देखी ।

यह सुनकर मैंने सोचा कि ऐसी क्या बात है । मैं विचार ही रहा था कि उन्होंने कहा कि पहले तो प्रायः साधु गृहस्थों के आगे-पीछे रहते थे, किन्तु इस दफा मैंने देखा कि चातुर्मास में लोग आपकी ही आज्ञा में चलते हैं । यह सुनकर मैंने कहा, आप मुझे क्या मानते हो ? वे बोले, गुरु ।

मैंने कहा कि यदि मैं गुरु हूं तो मुझे गुरु बन कर ही रहना चाहिए । तुम्हारी और हमारी शोभा किस बात में है ? मेरी

आज्ञा तुम्हें मानने में कि तुम्हारी आज्ञा मुझे मानने में ? जो शुभचिन्तक होते हैं वे सदा सच्ची ही बात कहेंगे। किन्तु ऐसी सच्ची बात कहने और सुनने वाले दोनों ही बहुत थोड़े हैं। देखो, उस बालक ने सत्य कहा तो मां उसे मारने के लिए दौड़ी। इसी प्रकार ब्रह्म-दत्त चक्रवर्ती भोगों में डूबा हुआ था। उसे चित्तमुनि ने समझाया और ज्ञान दिया, किन्तु उसपर उपदेश का कोई असर नहीं हुआ और अन्त में मरकर वह नरक ही में गया। सत्य उपदेशदाता चित्तमुनि मोक्ष में गये। अस्तु, विशुद्ध सत्य कहने में कभी पीछे नहीं रहना चाहिए।

सज्जनो ! अन्त में मेरा आपसे एक बार फिर यही कहना है कि सत्य कहना अर्थात् सत्य मार्ग का दिग्दर्शन कराना भगवान् के मार्ग की प्रभावना करना है। जो व्यक्ति वास्तविक बात को छिपाते हैं, दबाते हैं; वे न तो अपना ही कल्याण कर सकते हैं न किसी दूसरे का। भगवान् के मार्ग में सत्य कहने में किसी का लिहाज नहीं होना चाहिए। चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, इस धर्म का हो या उस धर्म का, जो भी आरंभ करता है उसे दुख भोगना ही पड़ता है। इसलिए संसार के लोगो ! यदि सुख और शान्ति चाहते हो तो आरंभ को घटाओ। जो पुण्यशाली ज्ञानी आरंभ को घटाते हैं उन्हें परम शांतिमय मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ब्यावर }
२४-८-५६ }

: ७ :

क्षमता

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं ॰ संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं :।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति ान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रति ॰न्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो !

ज्ञानी पुरुषों ने संसार के प्राणियों का पथप्रदर्शन करते हुए बतलाया है कि—हे भव्यात्माओ ! जब तक तुम सीधा रास्ता अख्तियार नहीं करोगे, तब तक जहां पहुंचना चाहते हो, वहां नहीं पहुंच सकोगे।

यहां क्या होता है ? जिसे जिस ग्राम या नगर में जाना होता है, वह रास्ते के जानकार व्यक्ति से पहले उस गांव का रास्ता

पूछ लेता है और उसके पश्चात् ही उस पर चलना आरंभ करता है। अगर वह जानता है कि इस रास्ते पर चलने से कोई खतरा आ सकता है तो वह उसे छोड़ देता है और दूसरे निरापद मार्ग पर कदम बढ़ाता है।

इस प्रकार जब अपने निश्चित लक्ष्य पर पहुंचने के लिए दुनियादारी में भी सीधा और साफ़ रास्ता पूछना पड़ता है, तो फिर उस शिवपुर-नगर में जाने के लिए; जहां से फिर कभी वापिस आना ही नहीं, जहां अनन्त, अक्षय और अव्याबाध सुख है, जहां आत्मा अनन्त आत्मज्योति में सदा लीन रहता है और जो हमारा चरम और परम लक्ष्य है, उस शाश्वत स्थान पर पहुँचने के लिए भी क्यों न शुद्ध और निरापद मार्ग की आवश्यकता होगी? और जैसा मार्ग होता है, उसी के अनुरूप सहूलतें जुटाई जाती हैं। ऐसा न किया जाये तो मंजिल तक पहुंचने में बाधा पहुंचती है।

अभिप्राय यह है कि जो भव्य प्राणी सिद्धि के मार्ग पर चलना चाहता है, उसे भी कोई न कोई शार्ट-कट (छोटी पगडंडी) चुननी ही पड़ती है। किन्तु यह जीवात्मा उस लक्ष्य पर पहुंचने के लिए चलता ही जा रहा है और वह भी अनन्त काल से चलता जा रहा है। यह लंबे काल की यात्रा है, जिस पर यह संत चल रहा है। परन्तु तारीफ़ यह है कि ज्यों-ज्यों यह चलता जा रहा है, त्यों-त्यों मार्ग और लम्बा-लम्बा होता जाता है। यही नहीं, वह अपने अभीष्ट लक्ष्य से दूर और दूरतर होता जाता है। कारण यह कि उसने सही मार्ग नहीं पकड़ा है और गलत राह पर चल रहा है।

तो ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि तुम भले थोड़ा चलो और चलने में भी उतावलापन मत करो, किन्तु मार्ग ठीक तरह निर्धारित कर लो और उसकी जानकारी हासिल कर लो। देख लो कि उस मार्ग में चोर या लुटेरे तो नहीं हैं। वे वह पूंजी तो नहीं छीन लेंगे, जो मार्ग चलने के लिए आवश्यक है और जिसके अभाव में आप आगे बढ़ ही नहीं सकते। क्योंकि मिथ्यात्व के मार्ग पर चलने से जीव को दुःख भी उठाने पड़ते हैं और पूंजी भी गंवा देनी पड़ती है।

ज्ञानीजनों ने केवल पथ निर्धारित करने की आवश्यकता ही नहीं बतलाई है, वरन् उस पथ का निर्देश भी कर दिया है, जिस पर चलने से यह जीव मोक्ष में जाता है। मोक्ष के मार्ग का निरूपण करते हुए सम्यग्दर्शन को सबसे प्रथम स्थान दिया गया है। सम्यग्दर्शन मोक्ष का राजमार्ग है। इस पर चलने से जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन बाहर से आने वाली वस्तु नहीं। वह आत्मा का ही अमूल्य निधि है। उसपर दूसरों ने अपना आधिपत्य जमा रक्खा है। हमें सिर्फ यही करना है कि जिन प्रतिपक्षियों ने आपकी निधि पर अधिकार जमा रक्खा है, उन्हें निकाल बाहर कर दें। आपको अनुभव होगा कि कोई किरायेदार ऐसा भी होता है कि घर में आकर जम जाता है तो उसे निकाल बाहर करना भी कठिन हो जाता है। सम्यग्दर्शन के लुटेरे तो अनन्त काल से हमारे अन्दर घुसे हैं। उनसे छुटकारा पा लेना कोई साधारण बात नहीं है। फिर भी यह असंभव नहीं है। ज्ञानियों ने बतलाया है कि तुम बिना किसी शंका के और बिना किसी आनाकानी के भगवान् के वचनों पर अविचल श्रद्धा रक्खो। अगर शंका ही शंका में पड़े रहे तो संसार में कोई भी कार्य नहीं कर सकोगे। शास्त्रकारों का

कथन है कि जब तक मनुष्य शंका पर आरूढ़ रहता है, तब तक वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। व्याकरण शास्त्र में 'संशय' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'शेते इव सर्वात्मना यस्मिन् सत्तीति संशयः।' अर्थात्, संशय वह मनोवृत्ति है जिसके उत्पन्न होने पर आत्मा पूरी तरह सो-सा जाता है। आपको विदित ही है कि सोते समय आत्मा की समस्त शक्तियां निश्चेष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार संशय की स्थिति में आत्मा की स्वाभाविक शक्तियां सो जाती हैं—चेष्टाहीन हो जाती हैं, क्रियाक्षम नहीं रहतीं। वह किसी बात का निर्णय नहीं कर पाता और निर्णय के अभाव में प्रथम तो प्रवृत्ति ही नहीं होती, कदाचित् दुविधा की स्थिति में प्रवृत्ति की भी जाये तो उसमें सबलता नहीं होती। कार्य की सफलता के लिए सुदृढ़ संकल्प आवश्यक है। जब दृढ़ संकल्प नहीं होता तो सब प्रयत्न अधूरे रहते हैं और परिणामस्वरूप कार्य की सिद्धि भी नहीं होतो। इसो कारण शास्त्रकार कहते हैं कि शंकाग्रस्त व्यक्ति संसार में भी कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, तो मुक्ति भी कैसे प्राप्त कर सकता है? नीतिकार कहते हैं—

> शंकाभिः माक्रान्नपानं च भूतले।
> प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या, जीवितव्यं कथन्नु वा? ॥

सारा संसार शंकाओं से आक्रान्त है। क्या भोजन और क्या पानी—सभी बातों में शंकाएं होती हैं। अगर शंका के ही शिकार हो रहे तो कहां प्रवृत्ति करोगे? किस प्रकार जिन्दा रहोगे? शंकावान् मनुष्य के लिए कोई भी काम करना कठिन है और यदि वह अधूरे मन से काम करता भी है तो सफलता नहीं पाता।

मनुष्य के मन में शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है ; पर उसी में डूबे रहना उचित नहीं। जब शंका उत्पन्न हो तो उसका निर्णय कर लेना चाहिए। शंका का समाधान प्राप्त कर लेने से नूतन बल की प्राप्ति होती है, उत्साह आता है और कार्य-क्षमता आती है।

सम्यग्दर्शन शंका उत्पन्न नहीं होने देता। वह आत्मा में दृढ़ विश्वास जगाता है और आगे बढ़ने की सामर्थ्य प्रदान करता है। अतएव शास्त्रकारों ने सम्यग्दर्शन को मुक्ति का प्रथम कारण बतलाया है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता।

मैं चातुर्मास में यहां वास कर रहा हूं तो आप यहां आकर एकत्र होते हैं। साधुओं का निमित्त न होता तो आप इतनी संख्या में यहां इकट्ठे न होते, यह मेल-मिलाप न होता। तो किसी भी कार्य के लिए कारण की आवश्यकता होती ही है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के दस कारण बतलाये गये हैं। उन दोनों कारणों में से किसी भी कारण से जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दर्शन के मूल रूप में दो कारण हैं—अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग कारण दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होना है। जब आत्मा, अनन्तानुबंधी कषाय के साथ दर्शनमोह का क्षय आदि कर डालता है तो उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य होती है। परन्तु अन्तरंग कारण के लिए भी कोई निमित्त–जरिया या बहिरंग कारण होना चाहिए। बाह्य निमित्त के बिना कर्म का उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के बाह्य कारणों में प्रथम कारण है ज्ञानी पुरुषों की वाणी का श्रवण। ज्ञानी जनों के उपदेश से समकित की प्राप्ति

हो जाती है। एक नहीं, वरन् अनेकों जीव ज्ञानियों के प्रवचन सुन-सुन कर संसार सागर को तर गये हैं।

हां, यह बात अवश्य है कि ज्ञानी वास्तव में ही ज्ञानी होना चाहिए। उपदेशदाता सभी मार्गों से अभिज्ञ हो। जो मार्ग वह बतलावे, उसका उसे भलीभांति बोध होना चाहिए। जो स्वयं मार्ग भूला हुआ होगा, वह किसी दूसरे को सही मार्ग नहीं बतला सकता। अतएव वक्ता को मार्गदर्शन में कुशल होना चाहिए। वक्ता पर समाज का गुरुतर उत्तरदायित्व होता है। वह समाज का पथप्रदर्शक है, नेत्र है। समाज को सही रास्ते पर ले जाने का उत्तरदायित्व उसी पर है। जैसे वैद्य के पास विभिन्न रोगों की दवाइयां मौजूद रहती हैं और जिस रोगी को जिस दवा की जरूरत होती है, वैद्य उसे देता है; उसी प्रकार उपदेशक के पास भी भिन्न-भिन्न चीजों का संग्रह होना चाहिए। अगर उसके पास ऐसा संग्रह नहीं है तो वह अपने पास आने वालों को क्या दे सकेगा? दूकान-दार के पास ग्राहकों के उपयोग की वस्तु नहीं होगी तो वह उन्हें क्या देगा? कैसे अपनी दूकान चलायेगा? उसकी दूकान ठप्प हो जायेगी। अतएव यह आवश्यक है कि दूकानदार के पास भिन्न-भिन्न नमूने मौजूद रहें। हां, इस प्रकार के नमूने मौजूद रखने के लिए दाम चाहिए—पूंजी चाहिए। तभी दूकानदार अधिक नमूने रख सकता है और अधिक लाभ भी पा सकता है। इसी प्रकार वक्ता भी, यदि परिश्रम करके, गुरु की सेवा करके और शास्त्रों का अध्ययन करके ज्ञान संग्रह कर लेता है तो अपने ध्येय में सफलता प्राप्त करता है; श्रोताओं को अधिक से अधिक लाभ पहुंचा सकता है।

कुंआ या बावड़ी अपने में पानी धारण किये हुए हैं। तो सबसे पहले शान्ति उसी स्थल को प्राप्त होती है, जहां पानी भरा है। फिर उससे अनेक जीव लाभ उठाते हैं, दूसरे लाभ लें या न लें, परन्तु उस स्थल का सन्ताप तो शान्त हो ही जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसे तो अपूर्व शान्ति प्राप्त हो ही जाती है और दूसरे भी यदि चाहें तो उससे लाभ उठा सकते हैं। हां, होना चाहिए वह सम्यग्ज्ञान। वह किसी दूषित दृष्टि से प्राप्त न किया गया हो।

सम्यग्ज्ञान किस उद्देश्य से प्राप्त करना चाहिए ? इसका उत्तर दशवैकालिक सूत्र में दिया गया है। वहां सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के चार उद्देश्य बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) मैं परिश्रम करके ज्ञानाभ्यास करूंगा, अध्ययन करूंगा और गुरुकृपा से श्रुतलाभ करूंगा तो मेरे पास सूत्रज्ञान का भंडार हो जायेगा। उस ज्ञान की सहायता से मैं अपने मन को, जो बिना लगाम के घोड़े की तरह इधर-उधर भटकता फिरता है, अपने वश में कर सकूंगा, क्योंकि मन रूपी अश्व के लिए ज्ञान रूपी लगाम बहुत उपयुक्त होती है। इससे मेरा मन एकाग्र हो जायेगा। मन को समाधि की प्राप्ति होगी।

सज्जनो! ज्ञानी पुरुषों ने ज्ञान को समाधि बतलाया है। जो लोग विकृतियां फैलाते हैं, क्लेश और कदाग्रह बढ़ाते हैं, समझना चाहिए कि उन्हें वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं है। वह मिथ्याज्ञान है, ज्ञानाभास है। शास्त्र में ज्ञान को गुरु बतलाया गया है। आत्मा का ज्ञान ही सच्चा गुरु है। वह आत्मा को भूल से बचाता है। प्रथम तो ज्ञानी इतना सावधान रहता है कि उससे भूल होती नहीं ; कदाचित् छद्मस्थता की तरंग में भूल

हो भी जाये तो वह शीघ्र ही संभल जाता है। इस प्रकार ज्ञान से चित्त स्थिर होता है और यह आत्मा, जो इधर-उधर भटकती है, डावांडोल होती है और दौड़-धूप मचाती रहती है, ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर भी श्रद्धा नहीं करती, ज्ञान से स्थिर हो जाती है।

भद्र पुरुषो ! आत्मा को काबू में कर लेना कोई मामूली बात नहीं है। मन पर काबू करने से आत्मा पर काबू होता है और आत्मा पर काबू होने से मन पर काबू होता है। मन में स्थिरता आती है तो आत्मा भी स्थिर होती है और आत्मा की स्थिरता मन में स्थिरता उत्पन्न करती है। इधर-उधर यों ही भटकने वाला और नाना प्रकार के संकल्प एवं विकल्प करके मिथ्यात्व का सेवन करने वाला मन जब स्थिर हो जाता है तो आत्मा को अपूर्व शान्ति और निराकुलता प्राप्त होती है। फिर कोई देवी-देवता भी उसे विचलित नहीं कर सकते। अतएव चित्त की एकाग्रता के लिए ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

ज्ञानाभ्यास का उद्देश्य दूसरों को धर्म में स्थिर करना भी है। जिसका चित्त धर्म में स्थिर हो जाता है, वह दूसरों को भी स्थिर कर सकता है। सज्जनो ! इसी कारण जो गुरु के पद पर प्रतिष्ठित हैं,उनकी निज की आत्मा दृढ़ होनी चाहिए। गुरु को पर्वत की भांति अडोल और अकंप होना चाहिए, क्योंकि धर्मी पुरुष पर अनेक प्रकार की आपत्तियां आती हैं। आप जानते ही होंगे कि समाज में जो साहूकार-मालदार होता है, वही सब की नज़रों में आता है। उसकी ओर सरकार का भी ध्यान रहता है और चोरों-डाकुओं का भी। यहां तक कि साधुओं का ध्यान भी प्रायः उसकी ओर आकर्षित होता है। इससे धनवान् को घबराना

नहीं चाहिए, बल्कि नीति के पथ पर चलते हुए सब को यथायोग्य देते रहना चाहिए।

शास्त्रकार बतलाते हैं कि जहां मधुर फल होते हैं, वहीं पक्षी चोंच मारते हैं। कड़वे फलों से पक्षी भी दूर रहते हैं। मगर फलों का द्वार तो उन चोंच मारने वाले पक्षियों के लिए भी खुला है। उनकी कृतार्थता इसी में है कि पक्षी आवें, चोंच मारें और अपनी क्षुधा की तृप्ति करें। फल यह नहीं सोचते कि पक्षी आकर मुझे दुःख देते हैं तो मैं उन्हें क्यों शान्ति प्रदान करूं? उसका द्वार सबके लिए खुला है; इसी प्रकार धर्मगुरु का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ रहता है। चाहे कोई निन्दक हो या स्तुतिकर्त्ता हो, धर्मगुरु के लिए सभी अनुकम्पा के पात्र हैं। डाक्टर और दवाखाने केवल रोगियों के लिए ही होते हैं। अगर हमने किसी कुष्ठी से परहेज़ किया और रोगी को दवा न दी तो हम किस काम के डाक्टर रहे!

जब किसी व्यक्ति में दुर्भावना जागृत होती है और यह भयानक व्याधि उसके पीछे लग जाती है,तो धर्मगुरु उसके लिए खास तौर से उपाय सोचते हैं और उसे बढ़िया दवा देते हैं। समझदार की यही भावना रहती है कि जिसकी आत्मा दुर्भावना से मलीन हो रही है, उसे सुधारने का, आत्मा को स्वच्छ करने का, कब मुझे अवसर मिले! मेरे निमित्त से कैसे उसका उद्धार हो! किस प्रकार उसकी दुर्भावना को मैं दूर करूं और सद्भावना जगाऊं।

भगवान् महावीर का आदर्श और परमपावन जीवन हमारे सामने है। उन्हें कितने घोर कष्ट दिये गये; परन्तु वे रंच मात्र भी अपने पथ से विचलित न हुए। उन्होंने जिस राह पर

चलना आरम्भ किया था, उससे एक कदम भी पीछे न हटे। पीछे हटना तो दूर रहा, क्षण भर के लिए भी अपनी गति को कुंठित न होने दिया। उनकी रफ्तार ज्यों की त्यों जारी रही। उनके मन में दुःख देने वालों के प्रति किंचित् भी रोष का भाव नहीं जागा। जब सोचा, उन्होंने यही सोचा कि यह पहले का बदला ले रहे हैं, मुझ पर इनका जो ऋण चढ़ा है, उसे वसूल कर रहे हैं। मेरा भार हल्का हो रहा है। इससे मेरा कुछ बिगड़ने वाला नहीं; लाभ ही होगा।

संगम देव भगवान् का पिछले जन्मों का दुश्मन था। भगवान् महावीर को साधु-अवस्था में देखते ही उसके वैर के सुप्त संस्कार प्रवुद्ध हो उठे। उसने सोचा बदला लेने का यह स्वर्ण-अवसर है। इस समय यह निश्शस्त्र हैं, निस्सहाय हैं, एकाकी हैं। दिल खोल कर बदला लेने का इससे उत्तम अवसर फिर कब मिलेगा? मगर भगवान् सच्चे साहूकार की तरह बदला देने को तैयार थे। वह चाहते थे कि जिसका कर्ज हो, वह ले जाये। वे जानते थे कि कर्ज अदा किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। मुझे मोक्ष पाना है तो कर्ज़ चुका देना ही चाहिए।

वह साहूकार ही क्या जो पास में होते हुए भी रकम नहीं चुकाता और घर में रकम दबा कर दिवाला फूंक देता है! यह सच्चे साहूकार का काम नहीं। जो धन होते हुए भी कर्ज नहीं चुकाता, वह दिवालिये से भी बदतर है। दिवालिया तो मजबूरी हालत में होता है—उस हालत में, जब उसके पास चुकाने को कुछ शेष न बचा हो। और यह उसकी ईमानदारी है कि वह कहता है—मेरे पास अगर कुछ आया तो पहले तुम और बाद में मैं हूँ।

भगवान् महावीर ने सब कर्जदारों को आह्वान किया कि जो-जो लेना चाहें, ले लें। वे जानते थे कि कर्ज़ चुकाये बिना जहां जाना है, वहां जाना न होगा और चुका कर ही जाना होगा।

तो संगम ने एक नहीं, अनेक परीषह दिये। उसने नाना प्रकार के रूप बदल-बदल कर कष्ट देने में कोई कसर न रक्खी। एक ओर महामानव था और दूसरी ओर महादानव था। दोनों की शक्तियों में होड़ लगी थी। ग्रन्थकारों ने उल्लेख किया है कि संगम देव लगातार छः महीनों तक पीछे पड़ा रहा। मगर वह महावीर को पराजित न कर सका। अनेकानेक भयानक यातनाएं सहन करके भी वे विजयी हुए और संगम यातनाएं देकर पराजित हुआ।

भगवान् ने अपने तपश्चर्या-काल में मनुष्यों द्वारा प्रदत्त अनेक कष्ट सहन किये। उन्हें दुस्सह शारीरिक पीड़ाएं मिलीं। पर उनका मन मानों फौलाद का था। वे सब व्यथाओं और पीड़ाओं को अतिशय शान्त भाव से पी गये।

सज्जनो! जरा संगम देवता की मनःस्थिति पर विचार तो कीजिये। वह देवलोक के अनुपम ऐशो-आराम और बत्तीस प्रकार के दिव्य नाटकों का आनन्द त्याग कर दुःख देने के लिए भगवान् के पीछे-पीछे फिरता रहा! वास्तव में पापी जीव ऐसे ही होते हैं। चाहे उनका सारा धन क्यों न बरबाद हो जाये, कुछ भी क्यों न बिगड़ जाये, किन्तु वे दूसरों की हानि किये बिना नहीं मानते। वे दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए अपना सर्वस्व भी न्योछावर कर देते हैं।

लोग दो तरह के होते हैं—एक तो बिनौले (कपासिया) के साथी और दूसरे सन के साथी। दोनों की प्रकृति अलग-अलग होती

है। सन काट कर धूप में सुखाया जाता है और फिर पानी में डाल दिया जाता है। उसकी छाती पर मन दो मन का बोझ भी लाद दिया जाता है, ताकि वह अच्छी तरह भीग जाये ! उसके पश्चात् उसकी खालें (त्वचा) उतारी जाती हैं। वह कम्बख्त पानी को भी गंदा कर देता है; क्योंकि खोटे की संगति से खोट ही पैदा होती है। सन की संगति से स्वच्छ जल भी गंदा हो गया।

हां, तो वह सन जब बाहर निकाला जाता है तो उसकी चमड़ी उधेड़ी जाती है और लकड़ियों से खूब कूटा जाता है, क्योंकि उस पर मैल होता है। फिर उसे धोकर सुखाया जाता है और बाद में रस्सी बनाई जाती है। रस्सी बनाने वाले चक्र पर खूब घुमा-घुमा कर वट लगाते हैं, मानो उसकी नस-नस को तोड़ रहे हों।

इतना कष्ट उठाना पड़ता है सन को। उसकी इतनी दुर्दशा देख कर किसी कवि ने उससे पूछा—तुम क्यों इतना कष्ट सहन कर रहे हो ?

सन ने कहा—बोलो मत। इस दुःख में भी मुझे कितना अधिक आनन्द आ रहा है, यह कहने की बात नहीं है।

कवि यह सुन कर चकित रह गया। उसने पुनः प्रश्न किया—भाई सन ! जरा बतलाओ तो सही कि तुम्हारे आनन्द का कारण क्या है ? क्यों इस दुःख में तुम सुख का अनुभव कर रहे हो ?

सन ने कहा—सुनना ही चाहते हो तो सुन लो। जिस दिन मैं रस्से के रूप में परिणत हो जाऊंगा, उस दिन मैं उन पशुओं को, जो आज स्वतन्त्र घूमते फिरते हैं, परतन्त्र कर दूंगा। वे बन्धन में बन्ध जायेंगे। मैं उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकूंगा और उन्हें परतन्त्र बना दूंगा। मुझे समस्त कष्ट सहन करने का लाभ

प्राप्त हो जायेगा। मैं अपने ध्येय में सफलता प्राप्त कर लूंगा। भविष्य का यही विचार मुझे इस कष्ट में भी आनन्द प्रदान कर रहा है।

भद्र पुरुषो ! आप समझ सकते हैं कि सन की भावना कितनी दूषित है ! उस दुष्ट ने दूसरों को बन्धन में डालने के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहते-सहते अपनी जिंदगी भी बरबाद कर डाली।

सन की इस प्रकृति के समान प्रकृति वाले कई पुरुष होते हैं। वे दूसरों को दुःख देने के लिए अपने सुख का भी परित्याग कर देते हैं और दुःख भोगने में ही आनन्द मानते हैं। वे दूसरों को नष्ट करने के लिए अपना विनाश भी सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। अपनी नाक भले कट जाये, मगर पड़ोसी का अपशकुन हो जाना चाहिए, यह उनकी मनोभावना होती है। कितनी तुच्छ और मूर्खतापूर्ण भावना है यह !

याद रक्खो, जिसका पुण्य शेष है, उसका बाल भी बांका नहीं हो सकता। मनुष्य की तो बिसात ही क्या है, देव भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

सज्जनो ! इसके विपरीत बिनौले के सदृश श्रेष्ठ आत्माएं भी होती हैं। वे अपना उज्ज्वल जीवन रखती हुई, दूसरे के महान् कष्ट को अपने ऊपर झेल कर भी उसे सुख पहुंचाती हैं। वह बिनौला अपने आपको चर्खी में दे देता है। उसके पास सर्दी-गर्मी से रक्षण पाने के लिए कोट, स्वेटर या जो कुछ भी समझो, रूई ही थी। वही उसका सर्वस्व थी। प्रकृति ने उसकी रक्षा के लिए एकमात्र वही साधन प्रदान किया था। उसका वस्त्र, पोशाक या वर्दी रूई ही थी। किन्तु वाह रे बिनौले ! प्रशंसनीय है

तेरा त्याग; ऋषियों और मुनियों के लिए भी यह अनुकरणीय है। तू एकेन्द्रिय होकर भी ऋषियों-मुनियों को पाठ पढ़ाता है, सबको अपने उदाहरण से उदारता का सबक सिखाता है। कितनी तेरी उदारता है! मगर कोई शिक्षा लेने वाला हो तब काम चले !

एक ग्रंथ में पढ़ा था कि शिक्षा-शिक्षा क्या चिल्लाते हो, यह सम्पूर्ण विश्व ही शिक्षणालय है। यह भी शिक्षा लेने की एक संस्था है। इसमें जड़ और चेतन सभी पदार्थ शिक्षा दे रहे हैं। हृदय और मस्तिष्क वाले सभी पदार्थों से शिक्षा ले सकते हैं। औरों की तो बात छोड़िये, पशुओं तक को देख कर शिक्षा मिलती है और जिन्हें मिल गई वे केवल ज्ञान पा कर मोक्ष में जा पहुंचे। चाहिए पात्रता और योग्यता ! सज्जनो ! तुम्हें तो गुरु, मुनि, त्यागी और महाव्रती शिक्षा दे रहे हैं। परन्तु जो शिक्षा लेने योग्य होते हैं, वही शिक्षा ले सकते हैं।

चार प्रत्येक बुद्धों में एक राजा करकण्डू थे। प्रत्येक बुद्ध और स्वयं बुद्ध में थोड़ा अन्तर होता है। जिन्हें अपने आप ही अन्दर से बोध की प्राप्त होती है, वे स्वयं बुद्ध कहलाते हैं। वर्षा अधिक होने पर ज़मीन धीरे-धीरे एक रस होकर तर हो जाती है और जहां से थोड़ी-सी रेत हटाई जाये, वहीं चारों ओर से पानी झरने लगता है। रतलाम में मेरा चौमासा था। वर्षा खूब हुई, किन्तु लोग कहने लगे महाराज ! अभी पूरी वर्षा नहीं हुई है। पूरी वर्षा तब होती है जब कि पानी ज़मीन में से उबकने लगता है। तो जैसे जमीन में से पानी अपने आप उबकने लगता है, इसी प्रकार जब मनुष्य को स्वयं बोध प्राप्त हो जाता है तो वह स्वयंबुद्ध कहलाता है। किन्तु ऐसे स्थान बहुत कम हैं, जहां स्वयं

पानी उबकने लगता है। अधिक स्थान ऐसे ही होते हैं जहां खोदने से पानी निकलता है। इसी प्रकार वे आत्माएं बहुत हैं जिनको जप-तप आदि की खुदाई के बाद ज्ञान रूपी जल की प्राप्ति होती है। वे स्वयंबुद्ध स्वर्ग, नरक, लोक, अलोक, धर्म, अधर्म आदि सभी वस्तुओं का ज्ञान स्वयं, परोपदेश के विना ही प्राप्त करते हैं।

प्रत्येक बुद्ध इनसे भिन्न होते हैं। उन्हें किसी बाह्य पदार्थ को देखने से और उसके विचार में गहरे उतरने से ज्ञान-वैराग्य की प्राप्ति होती है। उनके लिए कोई नियत नहीं कि किसी साधु से, तीर्थंकर से, श्रावक से या और किसी खास चीज़ से ही ज्ञान प्राप्त हो। उनके लिए प्रत्येक वस्तु बोध का कारण बन सकती है।

अहा, कितनी उदारता है जैन शास्त्रों में ! वह कहते हैं— जिसने अपने आपको योग्य बना लिया है, तैयार कर लिया है, पात्रता प्राप्त करली है, उसके लिए प्रत्येक वस्तु बोध प्रदान कर सकती है और वह प्रत्येक बुद्ध बनकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उसे पहाड़ को, नदी को, नाले को या किसी भी अन्य पदार्थ को देखकर बोध प्राप्त हो जाता है। यथा—अहा, चौमासे में जो नदी ठांठे मार रही थी, अकड़ती हुई, उफनती हुई, इठलाती हुई द्रुतिगति से बह रही थी, आज वही पानी न मिलने के कारण सूखी पड़ी है ! मानव जीवन की भी यही स्थिति है। यह फूला-फला विकसित हुआ जीवन भी एक दिन सूख जायेगा। इस प्रकार नदी आदि किसी भी वस्तु को देख कर जिसे वैराग्य प्राप्त हो जाता है, बोध की प्राप्ति हो जाती है, वह प्रत्येक बुद्ध कहलाता है।

भगवान् महावीर फरमाते हैं कि किसी भी पदार्थ से ज्ञान प्राप्त हो सकता है, किन्तु कोई भूल न कर वैठना ; क्योंकि वह

ज्ञान क्षयोपशम के विना नहीं होगा। क्षयोपशम वाली आत्माओं को किसी भी निमित्त से ज्ञान हो जाता है। जो तिरने वाला होता है, लघुकर्मी होता है, उसके लिए कोई भी वस्तु वोध का कारण वन सकती है। इसके विपरीत भारी कर्म वाले व्यक्ति को साक्षात् तीर्थंकर भगवान् भी वोध नहीं दे सकते।

हां, तो करकण्डू राजा को पशुपालन का वहुत शौक था। वह एक दिन अपनी पशुशाला का निरीक्षण करने गया। वहां उसने गाय के एक नवजात शिशु को उछलते-कूदते देखा, मानों वह राजा का प्रेमपात्र वनने का प्रयास कर रहा हो? राजा उस भोले, सुन्दर और सुकोमल वछड़े को देख कर अतिशय प्रसन्न हुआ। उसने पशुशाला के अधिकारियों को आदेश दे दिया कि इस वछड़े को अपनी माता का पूरा दूध पिलाया जाये। जव राजा की कृपा हो गई तो किस चीज़ की कमी रह सकती थी? उस वछड़े को भरपेट दूध मिलने लगा और नौकर-चाकर उसकी विशेष रूप से सेवा-शुश्रूषा करने लगे। वह राजा का कृपापात्र जो ठहरा!

यथासमय वछड़ा भरपेट दूध पीकर हृष्ट-पुष्ट डील-डौल वाला वड़ा ही सुन्दर सांड़ वन गया। वह भरपूर जवानी में आ गया। राजा उसे देख-देख कर आनन्द का अनुभव करने लगा। अधिक दूध पीने के कारण उसका नाम 'दुद्दल' सांड़ पड़ गया था।

मगर काल के अप्रतिहत प्रभाव के कारण किसी भी चेतन और अचेतन वस्तु की एक-सी स्थिति नहीं रहती। जैसे वचपन चला गया और जवानी आ गई, उसी प्रकार जवानी भी स्थिर न रही। अभी तक वह यौवन के मद में उन्मत्त था और जवानी की

मस्ती में झूमता फिरता था। मगर वह समय चला गया। खून में वह जोश न रह गया। धीरे-धीरे दांत गिर गये। शरीर की चमड़ी सिकुड़ने लगी और जगह-जगह झुरियां पड़ गईं। सींग हिलने लगे—आंखें अन्दर की ओर धंस गईं। पेट सिकुड़ गया। हालत यहां तक गिर गई कि उसे उठने-बैठने में भी कष्ट होने लगा। जठराग्नि मन्द पड़ने से और दांतों के गिर जाने से चारा चरना भी दूभर हो गया।

सज्जनो ! दुद्दल सांड की जो स्थिति हुई, वही प्रत्येक मनुष्य की होती है। अतएव ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जो कुछ करना है, यौवनकाल में कर लो। यौवन जीवन का स्वर्णयुग है। इस युग में मनुष्य की समस्त शक्तियां सजग रहती हैं। अतः भविष्य के मंगल-साधन के लिए यही सर्वोत्तम अवसर है। जवानी बीत जायेगी और बुढ़ापा आ धमकेगा तो कुछ नहीं बन पड़ेगा। जवानी में कुछ कर लिया तो जवानी है और नहीं किया तो दीवानी है ! जवानी तो पहाड़ की नदी का पानी है। यह पानी कब तक पहाड़ पर ठहरेगा ? उसे नीचे आते देर नहीं लगेगी। जवानी समाप्त होने एवं जरावस्था आने में विलम्ब नहीं लगता।

हां, वह दुद्दल सांड बुढ़ापे की कमजोरी के कारण पड़ा हुआ है और अपने अतीत यौवन की स्मृति करके दुखी हो रहा है। सज्जनो ! जो मदभरी जवानी में किसी को कुछ नहीं समझता था, उन्माद के वशीभूत होकर सबको सताता था और पीड़ित करता था, आज वही दुद्दल सांड जराजीर्ण अवस्था में पड़ा है। आज छोटे-छोटे बछड़े भी उसे सींगों की टक्करें मारते हैं। उसका कुछ भी वश नहीं चलता। दुःखित होकर जिन्दगी के शेष दिन पूरे कर रहा है।

संयोगवश राजा करकण्डू एक दिन वाहर से घूमघाम कर पशुशाला में जा पहुंचा। उसने अपने प्रीतपात्र दुद्दल सांड़ की वर्तमान हालत देखी। देख कर उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने विचार किया—इसकी कुछ दिनों पूर्व क्या हालत थी और आज क्या हालत हो गई है ? क्या मैं भी इसी प्रकार काल के क्रूर प्रहार का लक्ष्य नहीं वन जाऊंगा ? निश्चय ही एक दिन मैं भी बूढ़ा हो जाऊंगा और मेरी भी यही स्थिति हो जायेगी।

राजा ने जब यह विचार किया तो कठोर वास्तविकता उसके सामने आ खड़ी हुई। भविष्य का अप्रिय और उद्वेगजनक चित्र आंखों के आगे खिच गया। अन्तःकरण में वैराग्य का भाव जागृत हुआ और सारा संसार असार प्रतीत होने लगा। वह अपनी आत्मा को संबोधित करके कहने लगा—ऐ करकंडू ! किस भ्रम में भूले हो ! तुम्हारी भी यही हालत होने वाली है। तुम्हें भी इस अर्ध-मृत्युमय बुढ़ापे का सामना करना पड़ेगा और उसके बाद इस दुनिया से कूच कर जाना होगा। जीवन का यह मस्ताना नशा कायम रहने वाला नहीं है ! अतएव अभी, जो थोड़ा-सा समय तुझे मिला है, उसका सदुपयोग कर ले। अवसर हाथ से निकल जाने पर फिर पछताना ही शेष रह जायेगा।

इस प्रकार बैल को देख कर राजा के चित्त में वैराग्य की जागृति हो गई। वैराग्य जागने पर वह राजपाट, सुख-वैभव, भोग-विलास आदि सबको तिलांजलि देकर आत्म-साधना करने के हेतु जंगल में चल दिया। पुष्पों की सुमृदुल शय्या पर पौढ़ने वाला आज कंकरीली भूमि पर शयन कर रहा है ! मुक्त हस्त से दूसरों को दान देने वाला नरेश आज उदरनिर्वाह के लिए घर-घर भिक्षा-

चर्या कर रहा है। फिर भी कहीं-कहीं मांगने पर भी रोटी का टुकड़ा नहीं मिलता। किसी घर में जाता है तो वहां की भद्रा भोजन छिपा लेती है और कहती है–अभी भोजन तैयार नहीं किया है ! फिर भी आत्मसाधक योगी प्रसन्न है, सन्तुष्ट है और लाभ-अलाभ में समभाव धारण किये रहता है।

जिसकी भावना ठीक नहीं, उसके यहां से आहार लेना भी ठीक नहीं। कहते हैं—

आप दिया सो दूध बराबर, मांग लिया सो पानी।
लिया सो रक्त बराबर, कहते ज्ञानी बानी।।

एक अजैन बाबाजी थे। उन्होंने मुझे एक बात सुनाई थी। वह इस प्रकार है–'एक बुढ़िया के पास माल बहुत था, मगर खाने वाला कोई न था। मैंने (उन बाबाजी ने) जाकर बुढ़िया से सवाल किया, पर उसने उत्तर नहीं दिया। मैं उसी के घर के सामने धूनी लगाकर बैठ गया। मैंने पक्का विचार कर लिया कि इससे लेकर ही जाऊंगा। बुढ़िया ने मुझे टालने की बहुत कोशिश की, किन्तु मैंने साफ कह दिया कि हम यहां से लिये बिना टलने वाले नहीं ! मैंने उससे कहा–अरी भूतनी! तू क्या नहीं देगी, तेरी छाया को देना पड़ेगा। अगर नहीं देगी तो तुझे चिड़िया बनाकर उड़ा दूंगा और फिर आकाश में उड़ती ही फिरेगी।

यह धमकी सुन कर बुढ़िया की अकल ठिकाने आई। उसने नरम पड़ कर कहा–बाबाजी, सचमुच कहीं ऐसा मत कर देना ! आप जीम लो और अपनी दक्षिणा भी ले लो।

तब मैंने भर पेट भोजन किया और दक्षिणा भी ली।

तो ऐसे-ऐसे साधु भी होते हैं। मगर पूर्ण अहिंसा का पालन करने वाले साधु को इस प्रकार का व्यवहार करना योग्य नहीं है।

श्रीमद् उत्तराध्ययनसूत्र के पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् ने फरमाया है कि सच्चा साधु कौन होता है ? वास्तविक भिक्षुक किसे कहना चाहिए ? यद्यपि भिखारी और भिक्षुक दोनों शब्द एक ही धातु से निष्पन्न हुए हैं, तथापि दोनों के रूढ़िगत अर्थ में अन्तर है। भिखारी रो-रोकर और गिड़गिड़ा कर लेता है और बाईजी, माईजी कह कर रोटी का टुकड़ा मांगता है। उसके हृदय में दीनता व्याप्त होती है। वह कहता है–तुम्हीं हमारे मां बाप हो ! तुम्हीं से हमारा गुज़ारा होता है। इस प्रकार दैन्य प्रदर्शित करके, मनुष्यता को मिट्टी में मिलाकर और अपनी पोजीशन को खोकर लेने वाले भिखारी कहलाते हैं। किन्तु भिक्षु का पद उच्च होता है। स्वयं भगवान् महावीर ने पूछे जाने पर अपने आपका 'भिक्षुक' शब्द से परिचय दिया था।

साधु स्वाभिमान के साथ भिक्षा लेता है। भिक्षा लेने में वह अपने गौरव को रंचमात्र भी ठेस नहीं लगने देता। दीनतायुक्त वाणी का प्रयोग करना साधु के लिए दोष माना गया है। अर्थात् जो साधु दीनतापूर्ण शब्द कह कर भिक्षा लाता है, वह दोष का पात्र होता है। साधु भूखा रह जाता है, पर दीन वचन नहीं बोलता। जब साधु भिक्षा के लाभ और अलाभ में समभाव रखता है, बल्कि लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक आत्महित मानता है, अनायास ही तपस्या हो जाने का विचार करके सन्तुष्ट हो जाता है, तो उसे दैन्य दिखलाने की आवश्यकता ही क्या है ? यद्यपि साधु जन-समाज में जो आध्यात्मिक चेतना सजग रखता है, धर्म-

भाव विकसित करता रहता है, लोगों को अनीति के मार्ग से हटा कर नीति और धर्म के मार्ग पर लगाता है और इस प्रकार अपना समग्र जीवन जनकल्याण के लिए समर्पित कर देता है, उसे जीवन-निर्वाह के हेतु समाज से भिक्षा पाने का अधिकार है, फिर भी सच्चा साधु कभी अपना अधिकार नहीं जतलाता। वह न अपने अधिकार की मांग करता है और न दीनता ही दिखलाता है। दीनता में आत्मा का पतन है और शासन की अवहेलना है। भगवान् का फरमान है कि साधु को वही कार्य करना चाहिए कि जिससे जिन-शासन की उन्नति और प्रभावना हो और आत्मा का भी उत्थान हो।

पेट के लिए गिड़गिड़ाना कायरों का काम है। साधु सिंहवृत्ति धारण करके भिक्षा लेते हैं! सिंहवृत्ति का अर्थ यह न समझा जाये कि वे किसी से सिंह की तरह जबर्दस्ती से छीन लेते हैं। नहीं, इसका अभिप्राय इतना ही है कि उनके मन में तनिक भी दीनता नहीं आने पाती। वस्तुतः साधु को न दीनता ही प्रदर्शित करनी चाहिए और न ऐसे शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए कि—अगर तू नहीं देगी तो तुझे चिड़िया बना कर आकाश में उड़ा दूंगा। साधु की भाषा मर्यादायुक्त होती है। भिक्षाचर्या के अवसर पर भी वह मर्यादित शब्दों का ही प्रयोग करता है।

गृहस्थ के घर में अनेक प्रकार की वस्तुएं मौजूद हैं, पर वह साधु को उन्हें देना नहीं चाहता। तो साधु का उस समय क्या कर्त्तव्य है?

ण प भोयणं,
विविहं खाइमं साइमं परेसिं।

अदए पडिसेहिए नियण्ठे,
जो तत्थ न पउस्सइ स भिक्खू ॥
—दशवैकालिक

शय्या, आसन, पानी, भोजन, तथा नाना प्रकार के खादिम और स्वादिम गृहस्थ के गृह में विद्यमान हैं। वे साधु को दिखाई दे रहे हैं। फिर भी गृहस्थ उन्हें देता नहीं और देने से इन्कार करता है। ऐसी स्थिति में साधु को चाहिए कि वह लेशमात्र भी क्रोध या द्वेष न करे और प्रशान्त भाव से लौट आये।

साधु को दान देकर गृहस्थ अपना निज का उपकार करता है। वह अपने पाप-कर्मों का क्षय करता है और संसार से तिरने के लए मार्ग का निर्माण करता है। साधु दान लेकर गृहस्थ पर एहसान करता है। इस प्रकार की भावना गृहस्थ के चित्त में होनी चाहिए।

अगर गृहस्थ की भावना साधु को दान देने की न हो तो साधु को कदापि नहीं लेना चाहिए। अगर कोई लेता है तो वह साधुता का अपमान करता है और साधुत्व के महत्व को कम करता है।

हां, तो करकंडू राजा छप्पन भोजन करने वाले थे। उन्हें संसार के उत्तम से उत्तम भोगोपभोग सभी प्राप्त थे। किन्तु उन्होंने सब कुछ त्याग कर भिक्षुक-जीवन अंगीकार किया। घर-घर घूम कर, गवेषणापूर्वक रूखा-सूखा जैसा भी मिल जाता, उसी में वे सन्तोष कर लेते थे और आत्मसाधना में लीन थे।

तो मैं कह रहा था कि उन्हें बैल को देखने से ही बोध प्राप्त हो गया। इसका यह अर्थ नहीं कि—हे वृषभ देव! तुझ से ही

ज्ञान प्राप्त होता, है अतएव तुझे नमस्कार है। इस प्रकार कह कर नमस्कार करने से बैल वैराग्य नहीं दे देगा। यों वैराग्य देने की शक्ति उसमें होती तो वह स्वयं दीक्षा क्यों न ले लेता ? बैल तो निमित्त मात्र था। करकंडू राजा की आत्मा में जो ज्ञान मौजूद था, वह करवट बदल कर खड़ा हो गया। सुप्त बोध जागृत हो गया।

इसी प्रकार निगाई राजा को इन्द्रस्तंभ देख कर वैराग्य आ गया था। गोगा पीर का मेला भरता है। वहां सब लोग एक बांस की पूजा करते हैं और उसपर सब चीजें तथा मालाएं चढ़ाते हैं। वह बांस उस समय बड़ा ही सुहावना लगता है। किन्तु दूसरे दिन जब राजा उधर से गुज़रता है और एक दिन पहले के सजे बांस को ठूंठ की तरह देखता है तो उसके मन में विचार आता है—कल तो देवता मान कर लोग इसकी पूजा कर रहे थे, किन्तु आज कोई नहीं पूछ रहा है ! जब तक पुण्योदय है, तभी तक सब ठाठ हैं। पुण्य क्षीण हुआ कि कोई टके सेर भी नहीं पूछता। इस प्रकार विचार करते-करते राजा को वैराग्य हो गया। इसका यह अर्थ नहीं कि ठूंठ को मत्था टेका जाये।

पांचाल देश के राजा द्विमुख को आम देख कर ही ज्ञान हो गया था। राजा अपनी सेना के साथ कहीं जा रहा था कि मार्ग में एक आम्रतरु दिखाई दिया। वह आम्रफलों से लदा हुआ था और फलों के भार से नीचे झुक गया था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे विनम्र होकर राजा का स्वागत कर रहा हो। राजा ने उस हरे-भरे वृक्ष को भलीभांति देखा और उसका एक आम भी तोड़ लिया और फिर आगे रवाना हो गया। राजा के पीछे

उसकी विशाल सेना थी । सब सैनिकों ने राजा का अनुकरण किया । जितने भी सैनिक वृक्ष के पास से निकले, सबने पके-पके आम तोड़ लिये । पके न बचे तो पीछे के सैनिकों ने कच्चे ही तोड़ने शुरू किये और जब कच्चे भी न रह गये तो पत्ते ही तोड़ने आरम्भ कर दिये । इस प्रकार उस वृक्ष में न फल शेष रहे, न पत्ते ही बचने पाये । आम का पेड़ केवल ठूंठ के रूप में रह गया ।

राजा की सवारी वापिस लौटी और उसी जगह पड़ाव डाला गया । राजा की दृष्टि उस आमवृक्ष पर पड़ी तो उसे आश्चर्य हुआ कि इतनी जल्दी इसके फल और पत्ते कहां विलुप्त हो गये ? आखिर राजा ने लोगों से पूछा तो लोगों ने बतलाया—आपने एक पका आम तोड़ा था । उससे हमने समझा कि इस आम में कोई विशेषता होनी चाहिए, तभी हुजूर ने तोड़ा है । अन्यथा आपको आमों की क्या कमी थी ? बस, श्रीमान् का अनुकरण करके सैनिकों ने पके, फिर कच्चे आम तोड़े और फिर पत्तों की बारी आ गई !

राजा ने एक हरे-भरे वृक्ष को, जो फलों और सघन पत्तों से अपूर्व छटा धारण किये था और अत्यन्त श्रीसम्पन्न दृष्टिगोचर हो रहा था, श्रीहीन ठूंठ के रूप में देखा । वही वृक्ष अब पथिकों को भयंकर दिखाई देता था । राजा उसे देख कर विचार-तरंगों में बहने लगा । उसके अन्तरतल में नाना प्रकार के विचार उत्पन्न और विलीन होने लगे । उसने अपने आपसे कहा—तेरी भी यही हालत होने वाली है । तू किस अभिमान में छका फिरता है ! आज तेरे पास सभी सुख-सामग्री है, किन्तु जिसकी बदौलत तेरा मान-सम्मान हो रहा है, यदि वही चला जाये तो तुझे कोई पूछने वाला नहीं रहेगा ।

निर्मल आकाश में हजारों और लाखों ही नहीं, असंख्य तारे चमकते हैं। किन्तु जब तक चन्द्रमा नहीं, कुछ भी नहीं। चन्द्रमा के बिना रजनी शोभायमान नहीं होती। इसी प्रकार रात तारों भरी है अर्थात् मनुष्य को सब सुख-सामग्री प्राप्त है, किन्तु चन्द्रमा के समान यदि ज्ञान नहीं है; धन मिल गया है, कण मिल गया है, परिवार मिल गया है, किन्तु आत्मबोध नहीं है, तो समझो कि हजारों-लाखों तारे चांद के बिना शोभा नहीं देते। आत्मबोध के अभाव में सभी पदार्थ शोभाहीन हो जाते हैं।

तो मैं कह रहा था कि यह अखिल विश्व शिक्षणालय है और इससे बढ़ कर विश्वविद्यालय कोई दूसरा नहीं हो सकता। यहां के प्रत्येक पदार्थ से शिक्षा प्राप्त होती है। मगर सही शिक्षा वही प्राप्त कर सकता है, जिसे आन्तरिक नयन प्राप्त हैं—आत्मबोध है।

सज्जनो ! जिन्होंने विश्व के किसी भी पदार्थ से बोध प्राप्त करके अपने जीवन को ऊंचा उठाया है, बहुत उच्च स्थिति पर पहुंचाया है, वे बिनौले के साथी हैं। बिनौला अपने सर्वस्व को रूई को अर्पित कर देता है, अपने आवरण का भी उत्सर्ग करके नंगा हो जाता है; मगर उसकी भावना यही रहती है कि भले ही मैं नंगा रह जाऊं, मगर मेरे द्वारा किसी विधवा का तन ढंक जाना चाहिए और सर्दी-गर्मी से बच जाना चाहिए।

धन्य ! बिनौला धन्य है ! गरीबों के प्रति उसे कितनी सहानुभूति है। हे बिनौला ! तू मनुष्य का सच्चा मित्र है। मित्र कैसा होना चाहिए ?

> मित्र ऐसा कीजिए, जैसे रूई ।
> जिन्दे का तो तन ढंके, मरे के जावे साथ ॥

हां, तो बिनौला स्वयं नंगा होकर भी दूसरों का उपकार करता है। जिनमें दूसरों की भलाई करने की गहरी भावना होती है, वे नंगे और भूखे रह कर भी दूसरों को शान्ति पहुंचाते हैं। उनका जीवन ही इतना मंजा हुआ होता है कि दया उनका जीवन और प्राण बन जाती है। जैसे प्राणों के बिना जीवधारी जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार परोपकारी पुरुष जब तक दूसरों की भलाई नहीं कर लेता, तब तक उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती।

एक अंग्रेज़ मोटर में बैठ कर किसी सभा में भाषण देने जा रहा था। रास्ते में उसने एक पशु को दलदल में फंसा देखा। वह प्राणी बाहर निकलने के लिए छटपटा रहा था। भरसक कोशिश कर रहा था। मगर बार-बार प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो पाता था।

अंग्रेज की दृष्टि उसपर पड़ गई। उसने फौरन मोटर रुकवाई। उसके अन्तःकरण में करुणा का तीव्र उद्रेक हुआ। वह जिस शानदार पोशाक में था, उसी को पहने उस दलदल में घुस गया। उसे पोशाक उतारने में होने वाला विलम्ब भी असह्य हो उठा। जब उस पशु को कीचड़ से बाहर खींच लाया, तभी उसे चैन मिली। इस व्यापार में उसके तमाम वस्त्र कीचड़ से भर गये। मगर उसे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसे अत्यन्त प्रसन्नता थी, सन्तोष था और एक प्राणी के कष्ट को निवारण करने के कारण वह अपने को धन्य समझ रहा था।

पशु कीचड़ से बाहर निकल कर चलने-फिरने लगा तो वह फिर मोटर में बैठ कर रवाना हो गया और सभास्थल पर पहुंचा।

उसके कीचड़ से लथपथ कपड़े देख कर लोग हैरान रह गये। लोगों के पूछने पर उसने सारा वृत्तान्त सुनाया। लोगों ने कहा—यह कष्ट श्रीमान् ने स्वयं क्यों उठाया? यह तो आपका नौकर भी कर सकता था।

अंग्रेज ने उत्तर दिया—निसन्देह यह काम मेरा नौकर कर सकता था, किन्तु इसे स्वयं करने से मुझे जिस आनन्द की प्राप्ति हुई, वह कैसे होती? इस परोपकार के काम में मेरी पोशाक खराब हुई, पर मैं इसे खराब होना नहीं, अच्छी होना मानता हूँ। इस पर लगा हुआ कीचड़ का छींटा इत्र और गुलाबजल का छींटा है। मैंने कीचड़ में परेशान होते उस पशु की दयनीय दशा देखी तो मेरे दिल में दुःख होने लगा। इसी दुःख को दूर करने के लिए मैंने यह सब किया!

सज्जनो! जिन्हें हम आज अनार्य और अधर्मी कहते हैं, उनके दिल में भी कितनी दया होती है? इस प्रकार की दया ही जीवों का बेड़ा पार कर देती है। शास्त्र में 'असुधा केवली' का निरूपण है, जिन्हें उपदेश सुने बिना ही केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु इस प्रकार के केवली वही होते हैं, जिनका जीवन पूर्व जन्म में ऐसी क्रियाएं करने से मंज जाता है, निखर जाता है। वे यहां साधारण-सा निमित्त पाकर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उनका बेड़ा पार हो जाता है।

तो वह दयालु अंग्रेज कहता है—मैंने उस पशु पर कोई ऐहसान नहीं किया। मैंने तो अपना ही दुःख मिटाने के लिए यह किया है। उसका दुःख मिटे बिना मेरा दुःख मिट नहीं सकता था, क्योंकि मैं उसके दुःख को अपना ही दुःख अनुभव कर रहा था। जब उसका दुःख दूर हुआ तो मेरा भी दुःख दूर हो गया।

इसे कहते हैं अनुकम्पा ! यही सच्ची दया और करुणा है, मगर आज तो कतिपय लोग इसे भी पाप में गिनने लगे हैं। आज ऐसे निर्दय लोग भी मिलेंगे कि उनके सामने कोई पानी में डूब रहा हो या आग में जल रहा हो, गाड़ी के नीचे कट रहा हो, तो भी वे देखते रहेंगे। वे न स्वयं बचायेंगे और न दूसरों को ही बचाने के लिए कहेंगे। अगर कोई दूसरा बचायेगा तो उसे पापी कहेंगे।

एक निर्दयी सामायिक कर रहा है और दूसरे सामायिक करने वाले के बैठके के नीचे छिपकली आ गई है। वह देख कर भी बतलायेगा नहीं। छिपकली मर जायेगी तो बाद तो कहेगा—असज्झाम हो गई ! किन्तु अरे मूर्ख ! पहले ही बता देता तो तेरा क्या बिगड़ जाता। ऐसे लोगों ने यह सिद्धान्त बना लिया है कि—'असंजती जीव का जीना नहीं वांछना !'

मर जाने के पश्चात् बताने से क्या लाभ है ? जब कोई मर ही गया तो फिर इंजेक्शन लगाने से क्या हो जाना है ?

हे मानव ! अगर तेरे हृदय में मानवता है तो उसकी सीधी माँग है कि तेरे दिल में दया-करुणा होनी चाहिए। यदि तू भला करने के बदले में भला करता है तो क्या विशेषता है ? प्रशंसा का पात्र तो वह है जो बुरा करने वाले का भी भला ही करता है। ऐसे ही उदारचित्त जन अपनी मानवता का परिचय देते हैं। एक ने दूसरे की चीज़ चुरा ली और दूसरे ने पहले की चीज़ चुरा ली। दोनों में क्या अन्तर रहा ? दोनों ही बराबर हो गये। तारीफ़ तो तब है कि बुरा तो बुराई करता जाये और तू भला करता जा। भलाई का भला और बुराई का बुरा फल मिलता है। इस विषय में जरा भी विपर्यास नहीं हो सकता—कोई अंधेर नहीं हो सकता। किसी ने गाली देने वाले को कहा है—

दददु दददु गालीं, गालिमन्तो भवन्तः ।
वयमपि तदभावाद्, गालिदानेऽसमर्थः ।।
ति विदितमेतद्, दीयते विद्यमानं ।
न हि शशकविषाणं, कोऽपि कस्मै ददाति ।।

किसी ने किसी को गाली दी। जिसे गाली दी गई, वह भला आदमी था, सभ्य था, संस्कारी था और समझदार था। उसने गाली देने वाले से कहा—ठीक है भाई, तुम्हारे पास गालियों का भंडार भरा है, तो दिये जाओ, दिये जाओ ! तुम गाली वाले जो ठहरे ! खेद है कि मेरे पास गालियाँ नहीं हैं। मैं दूँ तो कहां से दूँ। कैसे दूँ ? यह बात तो सारा संसार जानता है कि जिसके पास जो वस्तु होती है, वह वही वस्तु दे सकता है। कोई किसी से खरगोश के सींग मांगने लगे तो वह कहां से दे सकेगा ? भद्र पुरुषों के पास गालियां नहीं होतीं, बुराई नहीं होती, वह उनसे कैसे पाई जा सकती हैं ?

सज्जन पुरुष सदैव दूसरों को सुख देने की ही कोशिश करता रहता है और दुर्जन दूसरे को दुखी बनाने का मंसूबा किया करता है। दुर्जन को रोग ही ऐसा है !

चन्दन के वृक्ष के मूल में भयंकर विषधर भुजंग आकर आसन जमा लेते हैं और उसकी शाखाओं पर हनुमान जी की फौज अर्थात् वानरवृन्द घूमती रहती है, वह उसकी शाखाओं को तोड़-मरोड़ देती है और नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। उस वृक्ष को दुखी करती है। सुगंधित फूलों पर सौरभ-लुप्त भ्रमर चिपक जाते हैं और मकरन्द को चूसते हैं और दुःख देते हैं। चन्दन इतने दुष्ट व्यक्तियों के बीच रहता है, परन्तु उनकी दुष्टता से घबरा कर वह

अपनी सुगंध का परित्याग नहीं करता । वह जड़ में पानी सींचने वाले को तो सुगंध देता ही है, पर काटने वाले को तो और भी अधिक सुगंध प्रदान करता है ।

इसी प्रकार सत्पुरुष अपने विरोधी का ज्यादा से ज्यादा भला चाहते हैं । ऐसे ही अपार करुणा के सागर थे भगवान् महावीर स्वामी, जिन्हें मानवों ने और दानवों ने घोर कष्ट दिये, परन्तु वे शान्ति के साथ सब कुछ सहन करते रहे । वे यही सोचते थे कि लेने वाले ले रहे हैं और ज्यादा ले रहे हैं, तो वे अपने ऊपर बोझ बढ़ा रहे हैं, किन्तु मुझे तो हल्का ही कर रहे हैं । मैं तो नफे में ही हूँ ।

तो संगमदेव ने छः महीने तक नये-नये तरीकों से अधिक से अधिक कष्ट दिये किन्तु उन्होंने उफ़ तक नहीं की । वाह रे त्रिशला-नन्दन ; महावीर ! तभी तो तेरा नाम महावीर है ।

सच है, जो भली आत्माएँ होती हैं, वे सदा दूसरों का भला ही चाहती हैं । कहा है :—

पर वज्र भी टूटे तो हँसते ही रहेंगे पर—
दुखी को देख रो उठते, दया के वे सदन ही हैं ।
जगत् को तारने वाले, जगत् में संत जन ही हैं ।।
उन्हें उपमा कहो क्या दें, अपने से वे अपन ही हैं ।
कुल्हाड़े से कोई काटे, कोई आ फूल बरसावे ।।
हँसी से दें दुआ यकसां, अजब सारे चलन ही हैं ।

सज्जन पुरुषों की दुर्जनों के प्रति भी कितनी उदार भावना रहती है । अपने ऊपर चाहे वज्रपात ही क्यों न हो जाये, बड़ी से बड़ी भी विपत्ति क्यों न आ पड़े, वे इंच भर भी नहीं हटेंगे । वे

अपने मार्ग पर अडोल ही रहते हैं। मगर किसी दूसरे को दुखी देखते हैं तो ऐसे दुख का अनुभव करते हैं, मानों उन्हीं पर वज्र आ टूटा हो ! वे उसका सामना करते हैं। दुखियों का दुःख उन्हें रुला देता है। दूसरों के हित के लिए वे सभी मुसीबतें सहन कर लेते हैं और सब का भला ही सोचते और करते हैं। वे प्रभु से क्या माँगते हैं :—

महावीर स्वामी ! मैं चाहता हूँ,
हता हूँ।

और—

तुम्हें कि मैं चाहता हूँ,
मैं सारे भला चाहता हूँ।

यह है भव्य आत्माओं की कहानी ! यह उनके हृदय से उठी हुई झनकार है। उन्हें चाहे कोई कुल्हाड़े से काट दे या उनपर फूलों की वर्षा करे, वे दोनों को एक-सी दुआ देते हैं—तेरा भी भला और तेरा भी भला हो।

सज्जनो ! इन सब बातों को सुन लेना आसान है, पर आचरण में लाना बड़ा ही कठिन है। सिक्खों के धर्म ग्रंथ में लिखा है कि—

" र उपदेशे आप न करे, वत त जन्मे और मरे।"

जो स्वयं कहता है किन्तु करता नहीं है, तो गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने का मतलब क्या हुआ ? आना और जाना अर्थात् जन्मना और मरना तो हुआ, किन्तु कल्याण कुछ न हुआ।

धर्मबन्धुओ ! यह संसार रूपी समुद्र है। समुद्र में रत्न भी होते हैं, मोती भी होते हैं और मगरमच्छ भी होते हैं। समुद्र उन सभी को अपनाता है। सबको अपने अन्दर समाकर रखता है।

वह चाहे तो एक ही हिलारे में सब को बाहरे फेंक सकता है, मगर ऐसा करने वाले को फिर सागर कौन कहेगा ? भगवान् को 'सागरवरगंभीरा' कहा गया है।

भद्र पुरुषो ? यहां के एक भाई ने संप्रदाय मोह में आकर मेरे नाम एक पत्र लिखा है। पत्र मैंने पढ़ा है। वह अश्लीलता एवं अशिष्टता का परिचायक है। वह पत्र लिख कर किसी भाई ने अपनी असभ्यता का परिचय दिया है, किन्तु मुझ पर उसका कोई असर नहीं है। मैं तो भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि उस भूले-भटके भाई को भी सुबुद्धि प्राप्त हो, ताकि वह भविष्य में पुनः ऐसी भूल न करे। मेरी किसी भी व्यक्ति के प्रति दुर्भावना नहीं है। ऐसे अवसरों को मैं अपनी कसौटी का काल समझता हूं। अगर मैं इतना धैर्य न रक्खू तो संयम का पालन करना ही कठिन हो जाये।

गंगा मैया चढ़ाये हुए फूलों को भी ले लेती है और डाली हुई हड्डियों को भी ग्रहण कर लेती है। साधु भी गंगा के समान हैं। यदि कोई निन्दा की हड्डियां डालतें हैं तो उन्हें भी ले लेंगे और स्तुति के पुष्प चढ़ाये जायेंगे तो भी ग्रहण कर लेंगे।

एक बावा नगर में भिक्षा के लिए जाता था। किन्तु एक बुढ़िया, जो धनिक थी, कुछ देती नहीं थी। वह प्रतिदिन अलख जगा जाता था। साधु की भिक्षा के लिए कोई खास घर नियत नहीं होता। उसके लिए सभी घर खुले हुए हैं। तो घर-घर मांग कर खाने वाला भिक्षुक है। एक दिन बावा बुढ़िया के घर अलख जगाने गया। बुढ़िया ने उसके पात्र में राख डाल दी। बाबा ने सोचा—ठीक है। आज राख वहराई है तो किसी न किसी दिन शक्कर भी वहरायेगी।

सज्जनो ! साधु तो हमेशा सीधी ही सोचते हैं और का भला ही चाहते हैं।

हां, तो संगम देवता भगवान् से बदला लेते-लेते और उन्हें दुःख देते-देते हार गया। भगवान् की विजय हो गई। इस लम्बे संघर्ष में क्षण भर के लिए भी भगवान् की संगम के प्रति दुर्भावना न हुई। तो मैं भी भगवान् का उपासक हूं। मैं भगवान् के बतलाये मार्ग पर यथाशक्य चलूं, तभी उनका सच्चा उपासक कहला सकता हूं। कहा भी है :—

क ी कथनी सहज है, करनी विष की लो।
कथनी कथे ज्यों करनी करे, तो विष भी त हो॥

तो मैं यही समझता हूं कि यह मेरी परीक्षा है। वे मेरे साहस और धैर्य की परीक्षा ले रहे हैं। वह सोना ही क्या जिसे अग्नि में न तपाया जाये ? वह पुष्प ही कैसा जो भट्टी में न चढ़ाया जाये !

तो संगम ने छः महीनों तक भगवान् को कष्ट दिये, मगर अन्त में देवशक्ति हार गई और मानवशक्ति विजयी हुई। वे कष्ट सहने वाले अपने मस्तक पर बल भी न लाये। वे ज़हर को भी शर्बत की तरह पी गये।

ग्रंथकार कहते हैं कि जब संगमदेव निराश और हताश होकर, मानवीय सामर्थ्य से पराजित होकर, अपना-सा मुंह लिये चला गया तो कहते हैं—भगवान् की आंखों में आंसू आ गये। प्रश्न उठता है—जब देवता घोर यातनाएं दे रहा था, तब जिसकी आंखों में आंसू न आये, उस महापुरुष को देवता के चले जाने से क्यों आंसू आ गये ? यातना से छुटकारा पाने पश्चात् उसकी यह स्थिति क्यों हुई ? हर्ष के अवसर पर विषाद कैसा ?

सज्जनो ! बड़ी विलक्षण बात है। ज्ञानियों का मार्ग अटपटा होता है। जहां पापी हंसते हैं। वहां धर्मी रोते हैं और जहां पापी रोते हैं वहां धर्मी हंसते हैं। महात्माओं के रोने और हंसने की दुनिया ही निराली है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।

साधारण प्राणियों के लिए जो अंधकार है, संयमवान् पुरुष के लिए वही प्रकाश है। ज्ञानी की विचारणा को ज्ञानी ही पहचान सकता है।

दुनिया के लोग दुख हटने पर हंसते हैं, वहां भगवान् रोते हैं। आखिर यह क्यों ? भगवान् तो अनन्तबली हैं, वज्रऋषभनाराच संहनन के धनी हैं, चालीस हजार मन भरी गाड़ी भी यदि उंगली के ऊपर से निकल जाये, तब भी उनका कुछ न बिगड़े। ऐसी असाधारण क्षमता वाले भगवान् कष्ट के समय तो घबराये नहीं, परन्तु अब क्यों आंसू बहाने लगे ?

भगवान् कहते हैं—बेचारा यह देवता स्वर्ग के तमाम सुखों को छोड़ कर बत्तीस प्रकार के नाटक आदि छोड़ कर छः महीने तक मेरे पीछे पड़ा रहा। फिर भी मैं उसका कल्याण न कर सका ! उलटा बेचारा मेरे कारण कर्मों से भारी होकर जा रहा है। बस, मुझे दुःख है तो इसी बात का है !

हे महावीर ! ऐ देवाधिदेव ! भगवान्, तेरी कितनी उदार भावना है ! अपना अपकार करने वालों के प्रति भी तू कितना दयालु है ! इस दया की कहीं सीमा नहीं है।

जब हमारे भगवान् की ऐसी भावना रही तो मैं भी उनका छोटा सेवक हूं। मुझ में भी कुछ ऐसी झलक आनी चाहिए।

तो जिस भाई ने मुझे पत्र लिखा, उससे किसी भी प्रकार का बदला लेने की भावना मेरे मन में नहीं है। अगर उसमें मनुष्यता है तो मेरे आशीर्वाद से उसे नसीहत मिल जानी चाहिए। आप लोगों को भी पूर्ण शान्ति रखनी चाहिए और इस घटना को विस्मृत कर देना चाहिए। जब उसे सद्बुद्धि आयेगी तो उसको पश्चात्ताप होगा। मेरी हार्दिक कामना है कि उसे सुबुद्धि प्राप्त हो। मैं बड़ा वज्रहृदय हूं कि उसकी कर्मबंधरूप करतूत पर मुझे रोना न आया, मगर अफसोस तो अवश्य है कि बेचारे ने व्यर्थ ही अशुभ कर्मों का बन्ध कर लिया। क्षमा महान् तप है और उसके प्रभाव से प्राणी कृतार्थ हो जाता है। कहा है—

क्रोड तक तप तपे, एक सहे जो गाल।
क्षमा बरोबर तप नहीं, जो मेरे मन की झाल।

करोड़ वर्ष तक तपस्या करने वाला कर्मों की जितनी निर्जरा करता है, क्षमाभाव से एक गाली को सहन कर लेने वाला भी उतनी निर्जरा कर लेता है। वास्तव में क्षमा के बराबर कोई दूसरा तप नहीं है। क्षमा से मन का संताप मिट जाता है और आत्मा में अपूर्व शीतलता प्रकट होती है।

सज्जन पुरुष अपने विरोधी से भी कहते हैं—चिरंजीव रहो। तुम्हारी आयु लम्बी हो। मैं जिन्दा रहूं तब तक तुम भी जिन्दा रहो, क्योंकि जीवन में मुझसे भूलें होंगी तो मित्र उन्हें नहीं बतलायेगा;

क्योंकि वह खुशामदी होगा और मुझ पर रहम करेगा ; मगर तू जिन्दा रहेगा तो फौरन बतला देगा।

इस तरह सज्जन पुरुष सीधा विचार करते हैं। उन्हीं कल्याण होता है। तुम भी ऐसा ही सोचो। दया और क्षमा सीखो। दुखियों के दुःख मिटाते चलो। प्रभुगुण गाते चलो। ऐसा करने से संसार-सागर से तिर जाओगे।

ब्यावर
२५-८-५६

भाग्य और पुरुषार्थ

अर्हन्तो न्त इन्द्रमहि :, रि श्च सिद्धिरि :,
च f ि सनोन्नति ा: पूज उपाध्याय :।
श्रीसिद्धान्तसुपा मुनिवरा रत्नत्रयाराध :,
परमेष्ठिनः प्रतिदि , न्तु नो मङ्ग ।।

उपस्थित महानुभावो ! बहिनो ! यह एक सर्वमान्य सत्य है और प्रत्येक व्यक्ति को सुविदित है और प्रत्येक का अनुभव इस तथ्य का साक्षी है कि इस भूतल पर जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने जीवन को आनन्दमय देखना चाहते हैं, सुखी बनना चाहते हैं। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जो अपना हित न चाहता हो और अपने जीवन का विकास न चाहता हो।

सज्जनो ! सभी प्राणियों की इस संबंध में एक-सी मान्यता है। यह मान्यता स्वाभाविक भी है, क्योंकि आनन्द जीव का स्वभाव है और सभी प्राणी अज्ञात या ज्ञात रूप में अपने स्वभाव की ओर ही आकृष्ट रहते हैं, यद्यपि उनका वह सहज आकर्षण बाह्य उपाधियों के कारण विकृत बन जाता है।

मगर मैं आपको कहा करता हूं कि चाह होना और बात है और चाहे हुए पदार्थों को जुटाना और बात है। कोई व्यक्ति भूख से पीड़ित हो रहा है, व्यथित हो रहा है और चाहता है कि मेरी भूख निवृत्त हो, क्षुधा से मेरा दामन छूटे, भूख का कष्ट दूर

हो अर्थात् भोजन मिल जाये। इस बात को समझने के लिए किसी से सलाह लेने की आवश्यकता नहीं, पोथियों के पन्ने पलटने की जरूरत नहीं और किसी पण्डित से पूछने की भी जरूरत नहीं। वह चिन्तना एवं प्रेरणा अन्दर से ही जागृत होती है और उद्बोधन करती है कि भूख दूर होनी ही चाहिए। उसकी इन्द्रियों और मन की एकमात्र यही पुकार होती है कि इस भूख से हम दुखी हो रहे हैं। शरीर शिथिल हो रहा है, हृदय आहत हो रहा है, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ रही हैं और प्राण डगमगा रहे हैं। मन में जो प्रसन्नता थी, उत्क्रान्ति थी और स्फूर्ति थी, वह मुरझाती जा रही है और सभी आत्मा को पुकार-पुकार कर यही कह रहें हैं कि अन्न के बिना हम सब मृतप्राय हो रहे हैं। अन्न के मिलने पर ही हमारी सृष्टि फूली-फली रह सकती है!

जब किसी दिन कोई उपवास करता है तो पूछने पर वह मन्द स्वर से ही कहता है कि आज उपवास किया है। मगर इधर के कई भाई और बहिन 'उपवास' को 'वास' कहते हैं। यह उपवास का 'वास' कैसे कर लिया? ईंट, चूना, मसाला आदि होने पर ही वास बनता है। मगर भाषा संबंधी ज्ञान न होने के कारण उच्चारण में गड़बड़-घोटाला हो जाता है। शुद्ध संस्कृत शब्द 'उपवास' है। उप अर्थात् समीप या नजदीक वास करना अर्थात् निवास करना उपवास कहलाता है। जिस क्रिया से, अनुष्ठान से अथवा जिस कर्म शोषक तपःक्रिया के करने से आत्मा आत्मभाव के समीप निवास करता है और अनात्मभाव से दूर होता है, वह 'उपवास' कहलाता है। उपवास में सिर्फ उपहार का ही त्याग नहीं किया जाता किन्तु कषायों का और इन्द्रियविषयों का भी त्याग करना आवश्यक होता है। कहा भी है:—

यदि याहारत्यागो यत्र विधीयते ।
: स विज्ञेयः, लङ्घनकं विदुः ॥

अर्थात्–सच्चा उपवास वही है जिसमें कषायों का, विषयों का और आहार का त्याग किया जाता है। कषायों और विषयों का त्याग न करके यदि सिर्फ आहार का त्याग किया जाये तो वह लंघन करना कहलायेगा, उपवास नहीं। क्योंकि कषाय और विषय का त्याग किये बिना आत्मा आत्मभाव के निकट पहुंच नहीं सकता।

हाँ, मैं कहने जा रहा था कि एक दिन के लिए भोजन का त्याग कर देने से ही शरीर कुम्हला जाता है; चक्कर आने लगते हैं; इन्द्रियां शिथिल पड़ जाती हैं, प्राण छटपटाने लगते हैं और मन की भी द्रुतगति मन्द पड़ जाती है।

ज्ञानो पुरुष कहते हैं–जब ऐसी परिस्थिति होती है तो भूखे मनुष्य को किसी से भी पूछने या सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती कि उसे क्या करना चाहिए ? उस समय स्वभावतः उसकी तीव्र इच्छा खाद्य पदार्थों की ओर ही जाती है, जिससे वह भूख के कष्ट से उबर सके और इस दुःख से छुटकारा पा सके।

यों तो शरीरधारियों के लिए ज्वर की, सिर दर्द की, उदररोग की, निमोनिया की, अतिसार की, राजयक्ष्मा की और न जाने कितने प्रकार की वेदनाएं हैं, किन्तु शास्त्रकारों ने भूख का कष्ट महान् कष्ट बतलाया है :—

खुहासमा नत्थि वेयणा ।

अर्थात् क्षुधा के समान कोई वेदना नहीं है। बुखार आता है तो मनुष्य पड़ा रहता है, किन्तु भूख न पड़ा रहने देती है, न खड़ा

रहने देती है। भूख में मनुष्य खाद्य-अखाद्य कुछ नहीं देखता। मनुष्य जब भूख से पीड़ित होता है तो जानवरों को मारकर उनका कच्चा मांस भी खा जाता है। भूखा मनुष्य कितने ही अनर्थ कर डालता है :—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्।

कौन-सा पाप है जिसे भूखा नहीं कर पाता अर्थात् वह सभी पाप कर सकता है।

हां, तो भूख लगने पर मनुष्य को सहज ही यह भावना होती है कि इस क्षुधा से छुटकारा मिले! किन्तु इस प्रकार की भावना या कल्पना मात्र से भूख दूर होने वाली नहीं। भूख मिटाने के लिए अनेक साधन जुटाने होंगे। उसे आटा, पानी, अग्नि, पात्र, शाक, मसाले आदि पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति करनी होगी और तभी उसकी क्षुधा निवृत्त हो सकेगी। अधिक नहीं तो कम से कम भी चार साधन तो उसे जुटाने ही पड़ेंगे—रसोई बनाने वाला, आटा, पानी और अग्नि। पात्र न हो तो भी चल सकता है। मगर चार में से एक की भी कमी होने पर रसोई नहीं बन सकती. और यदि आप कहें कि रोटी, शाक, खीर और मिठाई भी चाहिए, तो इस चाह का इलाज तो केवल संतोष ही है और कोई भी चाह की बीमारी को दूर नहीं कर सकता।

आशय यह है कि रसोई बनाने के लिए कम से कम चार साधन अनिवार्य हैं। तो जैसे इनमें से किसी एक के अभाव में रसोई बन ही नहीं सकती, इसी तरह अगर जन्म-जन्मान्तर की बीमारी को मिटाना चाहते हो और निराबाध सुख प्राप्त करना चाहते हो तो उसके लिए भी चार चीज़ों की आवश्यकता है।

सज्जनो ! दुनियावी साधनों के जुटने पर अगर भूख मिट गई तो कितने वर्षों और कितने महीनों तक के लिए मिटेगी ? अजी, एक दिन के लिए भी तो नहीं ! सुबह भूख मिटाई और दोपहर को फिर चूहे पेट में कूदने लगे ! अब दोपहर की भूख मिटाने के लिए भी चार साधन चाहिएं ! इस प्रकार यह मामूली-सी भूख भी जब चार साधनों के बिना नहीं मिटती तो फिर जन्म-मरण की बीमारी, जो अनादि काल से हमारे पीछे चली रही है, चार साधनों के बिना कैसे मिट सकती है ?

और जड़ साधन कितने ही क्यों न जुटा लिये जायें, कितने ही क्यों न इकट्ठे कर लिये जायें, पर उनको उपयोग में कौन लायेगा ? उस आटे को, पानी को और अग्नि को कौन यथोचित ढंग से काम में लेगा ? किसी रबड़ के आदमी को रसोई बनाने के लिए बैठा भी दोगे तो वह नहीं बना सकेगा। क्योंकि रसोई बनाने की होशियारी चेतन में—मनुष्य में होती है और वह प्राणधारक होता है।

तो मोक्ष के लिए भी मनुष्य को चार साधन जुटाने पड़ते हैं। प्रथम तो मोक्ष की करनी करने वाला होना चाहिये। उसके बिना मोक्ष की प्राप्ति होना संभव नहीं। आखिर मोक्ष की आवश्यकता है किसको ? मोक्ष का अर्थ है—दु:ख से छूटना। दु:ख चेतन को ही होते हैं। जैसे भूख मनुष्य को लगती है और उसीको साधन जुटाने पड़ते हैं और जिसे भूख नहीं, उसे साधन जुटाने की भी आवश्यकता नहीं। इस प्रकार सबसे पहले मोक्ष में जाने वाले का अस्तित्व होना चाहिए। अर्थात् आत्मा का अस्तित्व

स्वीकार करना होगा । आत्मा के अभाव में दुःख का भी सद्भाव नहीं और फिर मोक्ष का प्रश्न उपस्थित नहीं होता ।

रोटी तो तुम दूसरे से भी बनवा सकते हो, ढाबे में अथवा हलवाई के यहां जाकर पूड़ियां भी खा सकते हो, किन्तु यह मोक्ष-साधना की जो रसोई है, दूसरे से नहीं बनवाई जा सकती । दूसरे उपकारी गुरु आदि तो मोक्ष साधनारूप क्रियाओं की शाक-भाजी बनाने की विधि बता देंगे और मार्ग-दर्शन कर देंगे । किन्तु यह क्रिया तो तुझे ही करनी पड़ेगी ।

कितने ही लोग ऐसे दरिद्री, आलसी, प्रमादी और निरुद्यमी हैं जो केवल भाग्य के भरोसे, कर्म के भरोसे या ईश्वर के भरोसे बैठे रहते हैं और कहते हैं—अरे भाई, अपने किये क्या होता है ! आखिर होगा वही 'जो राम रचि राखा ।' अर्थात् जैसे ईश्वर की इच्छा होगी, वही होगा । भाई ! क्या ईश्वर ने तुझे कोई परवाना लिख कर दे दिया है कि तू हाथ पर हाथ रख कर निठल्ला बैठा रह और जो ईश्वर को, भाग्य को या दैव को मंजूर होगा, वही होगा । तेरे किये कुछ भी नहीं होगा ! किन्तु जैसा जिसका कहने का स्वभाव पड़ जाता है, उसका छूटना कठिन है ।

एक बाबाजी स्वभाव से बड़े ही सुकोमल थे । गांव के एक सिरे पर ही उनकी झोंपड़ी थी, जहां से गांव का रास्ता था । यह तो आप जानते ही हैं कि लड़की जब ससुराल जाती है तो अपने पितृ-परिवार के वियोग के कारण रोने लगती है । उसके माता-पिता आदि परिजन भी रुदन करने लगते हैं । यह मोह की विडम्बना है जो प्राणी मात्र को संतप्त किये रहती है । वास्तव में मोह बड़ा प्रबल है ।

गांव की लड़कियों की विदाई की रस्म, गांव के बाहर ठीक बाबाजी की झोंपड़ी के पास ही पूरी की जाती थी। जब बाबाजी दूसरों का रोना सुनते तो भावुकता के आवेश में आकर स्वयं भी रोने लगते थे। यह उनका स्वभाव पड़ गया था।

एक दिन गांव के मुखिया की लड़की ससुराल जा रही थी। जब सब लोग गांव के बाहर आ गये तो मुखिया ने कहा—देखो, जिसकी लड़की ससुराल जाती हो, उसका रोना तो ठीक भी लगता है, मगर इन बाबाजी का रोना ठीक नहीं लगता और अपशकुन-सा लगता है।

आखिर लड़की के पिता ने पांच रुपये बाबाजी को देकर कहा—यह लो, मगर रोओ मत।

'अच्छा, नहीं रोऊंगा' कह कर बाबाजी झोंपड़ी में चले गये। किन्तु ज्यों ही लड़की बिदायगी के समय जोर से रोई कि बाबाजी से नहीं रहा गया। वह झोंपड़ी से बाहर निकले और बोले—यह लो अपने रुपये! मुझसे बिना रोये नहीं रहा जाता।

अरे तूने घर-बार छोड़ दिया है, फिर क्यों रोता है? परन्तु आदत से लाचार!

तो मैं कह रहा था कि जिनकी निठल्ले बैठे रहने की आदत पड़ जाती है और जो पुरुषार्थहीन एवं निरुद्यमी होते हैं; वे काम नहीं करते और मानों दर्शनशास्त्र की बड़ी बातें बघारा करते हैं कि ईश्वर के पुरुषार्थ और विधान का कौन उल्लंघन कर सकता है? विधाता के लेख में कौन मेख लगा सकता है? ऐसे लोगों को एकान्त ईश्वरवादी कहना चाहिए।

कई लोग भाग्य को ही एकान्त रूप से आगे कर देते हैं। वे कहते हैं—

भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरु ।

अर्थात्—सब जगह भाग्य ही फलदायी होता है। न विद्या से और न पुरुषार्थ करने से ही फल की प्राप्ति हो सकती है।

हजार पुरुषार्थ करो, कितना ही उद्यम करो, होगा वही जो भाग्य में लिखा है। क्योंकि :—

लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः।

भाग्य में लिखे को मिटाने की शक्ति किसी में नहीं है। ऐसा कहने वाले एकान्त भाग्यवादी हैं।

इनसे विपरीत कोई-कोई एकान्त पुरुषार्थवादी होते हैं। वे कहते हैं—भाग्य मनुष्य के पुरुषार्थ के सिवाय क्या है? कुछ भी नहीं। संसार में जो भी सफलता मिली है, पुरुषार्थ से ही मिलती है। भाग्य, दैव या कर्म जैसी कोई चीज़ ही नहीं है।

इसी प्रकार कोई कालवादी होते हैं, कोई नियतिवादी हैं और यदृच्छावाद के समर्थक हैं। यह सभी एकान्तवादी अपने अभिप्रेत एक कारण को स्वीकार करके दूसरे कारणों का निषेध करते हैं। किन्तु विचारपूर्वक देखा जाये तो पता लगेगा कि वास्तव में सभी एकान्तवादी भ्रम में हैं। किसी भी कार्य की उत्पत्ति एक कारण से नहीं होती, वल्कि सामग्री से होती है जो अनेक कारणों के समवाय से वनती है।

गाड़ी दो पहियों से चलती है। अगर एक ही पहिये से कोई गाड़ी चलाना चाहे तो वह नहीं चल सकती। एक पंख से पक्षी

ना चाहे तो नहीं उड़ सकता। इसी प्रकार कर्म या पुरुषार्थ या अन्य किसी भी एक कारण से कार्य की सिद्धि होना असम्भव है। कर्म और पुरुषार्थ दोनों को साथ लेकर चलने से कार्य की सिद्धि होती है। उर्दू में इसे तकदीर और तदबीर कहते हैं। पूर्व-संचित कर्मों का जो खजाना है, वह तकदीर है और उद्योगशील होना, परिश्रम करना तदवीर है। यह तदवीर और तकदीर रूपी दो पहिये हैं इस जीवन रूपी गाड़ी के। इन दोनों के ही सहारे यह शकट चल रहा है। मगर किसी ने तदबीर का पहिया पकड़ रखा है तो किसी ने तकदीर का। अब गाड़ी बेचारी बीच में पड़ी है। वह चले तो कैसे चले ? दोनों पहिये गाड़ी में लगेंगे तो वह चलेगी और आप उसे जितनी दूर चाहेंगे, ले जा सकेंगे।

जब तक तकदीर और तदबीर एक दूसरे से पृथक् हैं, एक दूसरे से विमुख हो रही हैं और एक दूसरे से बिछुड़ी हुई हैं, तब तक कार्यसिद्धि नहीं होगी और नहीं ही होगी। दोनों के मिलने पर शीघ्र काम बन जायेगा। एक हाथ से रोटी बनाना चाहो तो कैसे बन सकती है ? इसी प्रकार कर्म और पुरुषार्थ से ही सिद्धि होती है।

आपको जानना चाहिए कि कर्म या तकदीर क्या है और पुरुषार्थ या तदबीर क्या है ? आप वर्तमान काल में जो भी शुभ या अशुभ क्रिया कर रहे हैं, वही क्रिया भविष्य में आपका कर्म बन जाती है। अर्थात् जब तक क्रिया की जा रही है, तब तक वह पुरुषार्थ है। वही क्रिया करने के पश्चात् भाग्य, कर्म या तकदीर बन जाती है। इस प्रकार तकदीर कोई आसमान से उतर कर आने वाली चीज़ नहीं है। वह तो मनुष्य के पुरुषार्थ से ही उत्पन्न

होती है; क्योंकि जहां-जहां क्रिया है, वहां-वहां कर्म है और जहां कर्म है वहां क्रिया की हलचल है। अर्थात् जहां-जहां क्रिया है, हलन-चलन है, मन-वचन-काय को स्फुरणा है, वहां कर्मों का बंध अवश्यंभावी है; इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु जहां कर्मों की सत्ता है, वहां क्रिया हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती।

सज्जनो ! यह उड़ान ऊंची है। क्रिया तेरहवें गुणस्थान तक ही होती है। चौदहवें गुणस्थान में योगों का सर्वथा अभाव होता है—पूर्ण अयोगी स्थिति प्राप्त हो जाती है, अतः वहां मानसिक, वाचिक या कायिक क्रिया भी नहीं होती। तेरहवें गुणस्थान तक, क्रिया होने से बंध भी होता है। केवलज्ञानी की—ब्रह्मज्ञानी की क्रिया भी बंध का कारण है; मगर आज कई ऐसे हैं जो अपने आपको ब्रह्मज्ञानी और निर्लेप मानते हैं और कहते हैं कि आत्मा कुछ करता ही नहीं है। वह अकर्त्ता है, अभोक्ता है, अलिप्त है। कर्म करना शरीर का और मन का धर्म है। आत्मा शुद्ध और निर्लेप है। आत्मा में पाप या पुण्य का कोई लेप नहीं है। ऐसे लोग मानो आत्मा को बिल्कुल धो-धाकर पवित्र करके ही बैठ गये हैं। उन्होंने अपना सिद्धान्त बना लिया है कि क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं।

जो लोग आत्मा को अकर्त्ता एवं शरीर, इन्द्रिय और मन को ही कर्त्ता कहते हैं, उनको समझना चाहिये कि शरीर रूप में तो मृतक शरीर भी पड़ा रहता है, उसमें हलन-चलन, गमन आदि क्रियाएँ क्यों नहीं होतीं? इससे यही जान पड़ता है कि क्रिया करने वाला, शरीर का संचालन करने वाला और शरीर को वेग देने वाला

शरीर में से निकल गया है। वह संचालक और वेगदाता आत्मा है और वही कर्त्ता है।

सज्जनो ! इन्द्रिय, मन और शरीर जड़ हैं, पुद्गल हैं और करण हैं। करण का व्यापार कर्त्ता द्वारा प्रेरित होने पर ही होता है। यह भी कहा गया है कि कर्तृव्य भाव वहीं होगा जिसके पास में करण होगा। श्रीमद्‌भगवतीसूत्र में चार करण बतलाये हैं, जिनके द्वारा यह आत्मा—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी संसारी जीव—कुछ क्रिया कर सकते हैं।

भाइयो ! यह जीवन का चक्र किसके द्वारा चलता है ? इस चक्र को चलाने के चार साधन हैं—(१) मनःकरण, (२) वचन करण, (३) काय करण और (४) कर्म करण।

शास्त्र में मन भी करण माना गया है। बहुत-से प्राणी ऐसे हैं, जिन्हें मन नहीं मिला है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेद्रिय—ये अनन्त जीव हैं जो मन से रहित हैं। जब उन्हें मन ही प्राप्त नहीं है तो वे मन के द्वारा कर्म भी नहीं कर रहे हैं। आप भगवान् के वचनामृत का पान करते हैं, क्योंकि आपको मनःकरण मिला है। वही तुम्हारे जीवन को प्रेरणा देता है, वेग देता है और आप सोचते हैं—आज हमें अवकाश है तो शास्त्र के श्रवण का ही लाभ प्राप्त करलें। तो यह सब सोचना-विचारना और विचारों की सृष्टि मन के अधीन है। अतएव मन करण है। वह जड़ है, किन्तु उसको धारण करने वाला और उसका आलम्बन लेकर सोचने वाला आत्मा चेतन है।

मनःकरण के पश्चात् वचन करण का नम्बर आता है। जितना भी संभाषण, वार्त्तालाप आदि कार्य होता है, वह सब जिह्वा

से ही होता है। वह काय से अथवा मन से नहीं हो सकता। किसी मनुष्य को वचनशक्ति प्राप्त हुई है, मन भी मिला है और वह सब शास्त्रों का धुरन्धर वेत्ता है, किन्तु किसी कारण से उसकी वाचा बेकाम हो जाये, वह गूंगा हो जाये तो यद्यपि वह बड़ा विचारक है, उसमें सब प्रकार की योग्यता है और वह सब पहलुओं को भली-भांति समझता है, फिर भी वह अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकता। गूंगे ने मिठाई खाई। वह उसके स्वाद को अनुभव करता है, पर उसे व्यक्त नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि बोलने का कार्य वचन करण से ही होता है।

भद्र पुरुषो ! जिन्होंने पूर्व जन्म में बहुत पुण्य किये हैं, उन्हें बोलने की शक्ति मिली है। इस संसार में अनन्त ऐसे अभागे प्राणी हैं, जिन्हें जबान नहीं मिली। ऐसे जीवों में से बहुतेरों को जबान पहले मिली थी, परन्तु वे अपने पाप-कार्यों द्वारा अपने पुण्य को गंवा बैठे। उन्होंने पुण्य से प्राप्त अपनी वचनशक्ति का सदुपयोग नहीं किया, बल्कि दुरुपयोग किया। उन्होंने धर्म की निन्दा की, देवों का अवर्णवाद किया, धर्म गुरुओं की निन्दा की। देव, गुरु, धर्म का गुणगान नहीं किया। वे मिली पूंजी को बढ़ाने के बदले घटा बैठे। जो पुत्र पूंजी का सदुपयोग करता है, नया-नया व्यापार कर के विशेष द्रव्य का उपार्जन करता है, पिता उससे सन्तुष्ट हो कर दो-चार हजार रुपये और दे देता है। किन्तु जो कुपुत्र पिता से प्राप्त पूंजी को सट्टे में, जुए में, वेश्यागमन में अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य दुर्व्यसन में गंवा देता है, उसे पिता फिर नवीन पूंजी नहीं देता। इसी प्रकार पुण्य रूपी पिता इस आत्मा पर दयालु हुआ तो उसने आत्मा को जीभ (वचनकरण) प्रदान की। यह पहली बार पूंजी देना समझ लीजिए। अगर आत्मा इस पूंजी

को अधिक बढ़ाता है तो आगे के लिए उसे और पूंजी मिल जायेगी। अगर उसने प्राप्त पूंजी ही गंवा दी तो दुबारा उसे पूंजी नहीं मिल सकती। उसे फिर मांगने पर भी नहीं मिलेगी।

तुम्हें पता होगा कि जो लड़का उड़ाऊ हो जाता है और समझाने-बुझाने पर भी नहीं मानता है और जब पिता के पास उसे सही राह पर लाने का कोई उपाय नहीं रहता, तब लाचार होकर वह अखबारों में सूचना प्रकाशित करा देता है कि—आज से मेरे दस्तखतों के बिना, कोई मेरे लड़के को रुपया-पैसा देगा तो मैं उसका जिम्मेदार नहीं हूं। तात्पर्य यह है कि जो प्राप्त साधनों का सदुपयोग करता है, उसके साधन निरन्तर बढ़ते जाते हैं और जो साधनों का दुरुपयोग करता है, वह प्राप्त साधनों से भी हाथ धो बैठता है। अतएव जिन्हें वचन साधन प्राप्त है, उन्हें इसका सदुपयोग करना चाहिए।

वचन का सदुपयोग करने में किसी का क्या बिगड़ता है ? गुणवानों के गुणों की प्रशंसा करने से जिह्वा घिसती नहीं, पैसा खर्च होता नहीं, किसी प्रकार का कष्ट होता नहीं। फिर क्यों परमात्मा की स्तुति नहीं करते ? गुरुओं की गुणगाथा क्यों नहीं गाते ? मधुर वाणी का प्रयोग क्यों नहीं करते ? अपनी जीभ से आग क्यों उगलते हो ? कांटे क्यों बिखेरते हो ? ज़हर क्यों निकालते हो ? अगर अमृत बरसाओगे तो तुम्हारा क्या लुट जायगा ? बिगाड़ कुछ नहीं होगा, सुधार अवश्य होगा। कवि ने कहा है—

रे जिह्वे ? कटुके स्नेहे, मधुरं किं न भाषसे।
मधुरं वद कल्याणि ! लोकोऽयं मधुरप्रियः॥

अरी जीभ ! भलीमानुस ! तू मीठी वाणी क्यों नहीं बोलती है ? तू मीठा बोल, क्योंकि सारा संसार मिठास का इच्छुक है—

कटुकता किसी को प्यारी नहीं लगती। कटुकता से मनुष्य को अत्यन्त संताप होता है। कहा है—

न तथा रिपुर्न शस्त्रं न विषं न हि दारुणो महाव्याधिः।
उद्वेजयन्ति पुरुषं, यथा हि कटुकाक्षरा वाणी॥

मनुष्य को कटुक अक्षरों वाली वाणी जितना खेद-संताप पहुंचाती है, उतना न शत्रु पहुंचा सकता है, न शस्त्र पहुंचा सकता है, न विष से उतनी वेदना होती है और न भयंकर बीमारी ही उतनी व्यथा उत्पन्न कर सकती है।

इस प्रकार जब कटुक वचन दूसरों को ऐसी घोर पीड़ा पहुंचाते हैं, तो उनका प्रयोग करना वचन करण का दुरुपयोग करना है।

वचन करण के अनन्तर तीसरा काय करण है। काय के द्वारा होने वाली क्रिया काय से ही होती है। मन द्वारा रोटी का विचार करने से रोटी नहीं बनती। उससे तो विचार ही हो सकता है। वचन से रोटी बनाने के लिए कहा जा सकता है, पर रोटी बनाई नहीं जा सकती। रोटी बनाने और पकाने की क्रिया तो काय के द्वारा ही हो सकती है। इसी प्रकार धर्मचिन्तन मन से होता है, समझाने का काम वचन से होता है; परन्तु उसे अमल में लाने की क्रिया काय से होती है। अतएव काय भी करण है और वह वचन एवं मन का आधार है।

चौथा कर्म करण है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल हैं, जो समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं, परन्तु अतिशय सूक्ष्म होने के कारण छद्मस्थों को दृष्टिगोचर नहीं होते। योग और कषाय के निमित्त से जीव इन पुद्गलों को अपने साथ बद्ध करता है। बद्ध होने पर वे पुद्गल कर्म कहलाते हैं।

यद्यपि कर्म वर्गणाएं सूक्ष्म हैं और दिखाई नहीं देतीं, तथापि उनका कार्य हमें दिखाई देता है। जो व्यक्ति बहुत दुखी होता है, उसके संबंध में लोग प्रायः कहते हैं—वह कर्मों का फल भोग रहा है। इस प्रकार कर्म भले न दीखें, पर उनका फल दिखाई देना प्रकारान्तर से उनका ही दिखाई देना है।

तर्कशास्त्र का यह नियम है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। कारण होने पर ही कार्य होता है। अतएव जब कार्य दृष्टिगोचर होता हो तो कारण के अस्तित्व की कल्पना कर लेना उचित ही है। कर्मों का अस्तित्व भी उनके कार्य द्वारा स्पष्ट और निर्विवाद ही सिद्ध होता है।

हे कर्म करने वालो! दुःख देने वालो! निर्बल को सताने वालो! ठीक है कि पापकर्म अल्पज्ञों को दिखाई नहीं देते, मगर जब कर्म अपना असर दिखलायेंगे तो सब कुछ दिखाई पड़ने लगेगा। कोई आदमी ज़हर छिपकर खा सकता है उसे कोई देख न सके; मगर जब उसका असर होगा और बेहोशी आयेगी, तब तो व छिपाये नहीं छिपेगी। वह प्रकट हो ही जायेगा। अरे! वह कोढ़ फूट-फूट कर बाहर आयेगा और दुनिया उसे देखेगी।

अरे हठाग्रही! दुराग्रही! ओ दुनिया के लोगो! तुम क्यों पाप किये जा रहे हो? ये पाप किसी के सगे नहीं हैं। जब भोगने पड़ेंगे तो याद आयेगी!

क्या माता और क्या पिता सब पल्ला झाड़ कर दूर हो जायेंगे। तेरे किये कर्म तुझ को ही भोगने पड़ेंगे।

अयोध्या में आज क्या मामला है? गली-गली और द्वार-द्वार पर मनोहर वन्दनवार क्यों बांधे जा रहे हैं? यह अपूर्व

सजावट किस उपलक्ष्य में हो रही है ? श्रुतिसुखद वाद्यों की ध्वनि क्यों हो रही है ? संगीताचार्य आज अपना समस्त कौशल जनता पर क्यों निछावर कर रहे हैं ? पूछने पर पता चला, आज रामचन्द्र का राज्याभिषेक होने वाला है। वे अवध के अधीश्वर बनने जा रहे हैं।

रामचन्द्र के पिता दशरथ आज प्रसन्न हैं। राज्य की कैद से उन्हें छुटकारा जो मिलने वाला है ! माताएं भी प्रसन्न हैं, उनका लाडला राम राजा बनेगा ! नागरिक फूले नहीं समाते, क्योंकि उनकी चिरकालीन अभिलाषा की पूर्त्ति हो रही है। इस प्रकार अवध के सब नर-नारी और राजपरिवार के लोग प्रसन्न हैं और खुशी मना रहे हैं।

परन्तु कर्मचन्द्रजी को यह पसंद नहीं। वह कह रहे थे—अरे राम ! तू चाहता है कि मैं सिंहासन पर आसीन होऊं, शासन-सूत्र का सचालन करूं। सब राज्याधिकारी और कर्मचारी तेरे आदेशों का पालन करें, किन्तु तू है किस ख्याल में ? मैं कदापि तुझे राजसिंहान पर नहीं बैठने दूंगा। मैं तुझे जंगल में भटकाऊंगा !

भद्र पुरुषो ! वह राम, त्रिलोकपूज्य, जो परमात्मपद को प्राप्त हुए और जिन्हें 'नमो सिद्धाणं' कह कर वन्दन किया जाता है, कर्म की शक्ति के सामने कुछ न कर सके। कर्म ने उन्हें राज्य के बदले अरण्यवास दिया ! कर्म क्या-क्या करते हैं—

कर्मों का ढंग देखो, खूंटी ने हार निगला।
विक्रम के हाथ पांवों, काटे है करी ख्वारी।

कर्मों से डरते रहना, इनकी है चाल न्यारी।
क्या क्या करें ये पल में, होती नहीं विचारी।

ओ कर्म बांधने वालो ! कर्मों से डरो। कर्ज लेना आसान है किन्तु चुकाना कठिन है। लेते समय तो हजारों, लाखों का कर्ज लिया जा सकता है किन्तु जब चुकाने का समय आयेगा तो छठी का दूध याद आजायेगा। कर्ज़ चुकाने पर या तो दिवालिये घोषित किये जाओगे या कैदखाने की हवा खानी पड़ेगी। तुम समझते होओगे कि धोखा देकर मियाद खत्म कर देंगे; यहाँ की मियाद खत्म हो सकती है, परन्तु वहां की नहीं हो सकती। मालूम है, ९९ जन्म पहले बांधे कर्म गजसुकुमार को, जो तीन खंड के नाथ श्रीकृष्णजी के भाई थे, भोगने पड़े थे। उन्हें भी मस्तक पर मिट्टी की पाल बंधवानी पड़ी थी और घोर यातना भुगतनी पड़ी थी। कहा भी है—

कर्म प्रताप तुरंग नचावत, कर्म से क्षत्रपति नर होई,
कर्म सपूत कपूत कहावत, कर्म से और बड़ो नहिं कोई।
कर्म किये जब रावण ने, तब सोने की लंक पलक में खोई,
आप .ई कहा करे मूर्ख ! कर्म करे सो करे नहिं कोई॥

बड़ी-बड़ी अक्ल वाले, शक्ल वाले, बुद्धि वाले, सिद्धि वाले, ऋद्धि वाले जो थे, मगर कर्मों के आगे सभी के शस्त्र ढीले पड़ गये। सभी को उनके सामने नतमस्तक होना पड़ा।

इसलिए बार-बार चेतावनी देता हूं कि कर्मों से डरते रहो। हंस-हंस कर कर्म मत बांधो। इन्हें भोगना मुश्किल हो जायेगा। गर्भ धारण करना कठिन नहीं, परन्तु उसके फलस्वरूप होने वाली प्रसव-पीड़ा कठिन होती है। इसी प्रकार हंस-हंस कर बांधे कर्मों को रो-रो कर भोगना भी कठिन होता है।

शास्त्रों में प्रश्न किया गया है कि जो जीव यहां से काल करके परलोक में जा रहा है, वह कितने कर्म बांध रहा है ? भगवान् ने उत्तर दिया—वह जीव आयु कर्म छोड़ सात कर्म बांध रहा है और आठ कर्म भोग रहा है।

बड़ा सूक्ष्म मामला है सज्जनो ! यह श्रद्धा से ही संबंध रखने वाला विषय है। जब यह जीव मर कर परलोक के मार्ग में या विग्रह गति में होता है, तब उसके स्थूल शरीर, मन और वचन नहीं होते। तैजस और कार्मण शरीर ही होते हैं और अध्यवसायों की त्रिपुटी चलती है। मार्गवहन के एक, दो और उत्कृष्ट तीन समय में भी यह जीव सात कर्म बांधता है और आठों कर्म भोगता है।

जिनके पास कर्म बांधने के विशेष अधिकरण नहीं, केवल सूक्ष्म कायकरण और कर्मकरण हैं, वे भी कर्मबन्ध से नहीं बच पाते। करण अपना काम किये बिना नहीं रहते। जहां अग्नि है वहीं वह जलाने का काम करती है। स्थानान्तर हो जाने पर भी उसका स्वभाव नहीं जाता। कुल्हाड़ा कहीं भी हो, काटने का काम करता है। इसी प्रकार कर्म यहां हैं तो यहां काम करते हैं, वहां हैं तो वहां करते हैं। अपना स्वभाव नहीं छोड़ते।

सज्जनो ! मैं कह रहा था कि इन कर्मों का मामला बड़ा विचित्र है। यह मन, वचन और स्थूल शरीर के अभाव में भी जीव को सात कर्मों से बांधते रहते हैं। सिर्फ आयु कर्म ही वहां
क्योंकि आयु का बंध जीवन में एक बार ही होता है।
जीव आयुबंध पहले ही कर चुकता है, क्योंकि आयु बंधे बिना कोई जीव मरता नहीं और न परलोक में जाता है। वह जो आयु

बांध चुका है, परलोक में उसे भोगना ही शेष है। मगर आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों का वह निरन्तर बंध करता रहता है। वांधे हुए आयु कर्म को जीव रास्ते में भी भोगता है।

इस प्रकार जब अल्प करण वाला जीव भी कर्मों का वन्ध करता है तो समस्त करण जिसे प्राप्त हैं, वह कितने कर्म न बांधता होगा ? और फिर बांधे कर्म भोगने में बड़ी कठिनाई होती है। जिनकी दुनिया में बड़ी आन और शान थी और जो ५६ करोड़ यादवों के अधिपति थे, उन कृष्णजी को जब कर्म के थपेड़े लगे तो कुसुम्बी वन में पानी-पानी रटते-रटते प्राण त्यागने पड़े और दो घूंट पानी भी न पा सके। कृष्णजी का जन्म हुआ तो कोई गाने वाला नहीं मिला ! और मरण हुआ तो कोई रोने वाला न मिला ! हां, बीच में उनके पुण्य का उदय रहा। जब हम जैन शास्त्रों के पृष्ठ खोलते हैं तो मालूम होता है कि उन्होंने कितना जबर्दस्त पुण्य उपार्जन किया था, जिसकी बदौलत उन्हें वासुदेव की पदवी प्राप्त हुई। यह पदवी कोई साधारण नहीं होती। वासुदेव में इतना बल होता है कि वे दस लाख योद्धाओं को भी पराजित कर सकते हैं। तो जो तीन खंड के नाथ थे और जिन्हें दस लाख योद्धाओं का बल प्राप्त था, उन्हें अन्तिम समय पानी भी न मिलना यह कर्मों की ही करामात है ! ऐसे-ऐसे पुरुषों को भी कर्म का फल भोगना पड़ता है तो हम जैसे साधारण जनों की तो बात ही क्या है !

आप मनुष्य को धोखा दे सकते हैं, उससे छिपा कर कोई काम कर सकते हैं, परन्तु कर्मों को धोखा नहीं दे सकते। कर्म सातवें पाताल में भी आपको छोड़ने वाले नहीं। मनुष्य जब

अभिमान में आकर सुधबुध अर्थात् शुद्ध बुद्धि खो बैठता है, तब उसे बोलने का भी भान नहीं रहता। जब क्रोध के आवेश में पागल हो जाता है, तब भी वह भूल जाता है कि मैं कौन हूं और क्या कर रहा हूं !

एक सेठ ने पहली पत्नी की मृत्यु हो जाने के पश्चात् दूसरी शादी कर ली। घर में एक लड़का था, जो पहली पत्नी का था। वह लड़का अपनी दूसरी माता के प्रति उपेक्षाभाव रखता था और उसे 'माता' कह कर भी नहीं पुकारता था, क्योंकि वह उसकी सौत का पुत्र था। अलबत्ता वह उसकी आज्ञा का पालन करता था।

कई दिन इसी प्रकार व्यतीत हो गये। लड़के की उपेक्षाबुद्धि ज्यों की त्यों बनी रही। तब एक दिन उसकी विमाता ने अपने पति से शिकायत की—यह तुम्हारा लड़का मुझे कभी माता नहीं कहता !

सेठजी के लिए वह पत्नी ही सर्वस्व थी। वह उसकी किसी इच्छा को टाल नहीं सकते थे और उसे बहुत चाहते थे। अतएव अपने लड़के की शिकायत सुनते ही वे आवेश में आ गये। उनका तापक्रम १०८ डिग्री तक जा पहुंचा। इस प्रकार जब सेठानी ने पलीता लगा दिया तो सेठ क्रोध से कांपने लगा। उसने स्त्री से कहा—'इसकी तो बात ही क्या, इसके बाप को भी कहना पड़ेगा !'

सेठ ने कहने को तो कह दी यह बात, मगर इसका अर्थ उस समय वह समझ न सका। मनुष्य जब आवेश में आ जाता है तो बेहोश हो जाता है। उसे यह विवेक नहीं रहता कि मुझे क्या

कहना चाहिए और क्या नहीं कहना चाहिए ? जब आवेश का ज्वार उतरता है और विवेक पुनर्जागृत होता है, तब अपने अनुचित शब्दों के लिए उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है और लज्जित होना पड़ता है।

सेठ की यही हालत हुई। जब उसे अपने शब्दों का ध्यान आया तो शर्मिन्दा हुआ। सोचने लगा—अरे, मैंने यह क्या कह दिया ! लड़के का बाप तो स्वयं मैं हूं और क्या मुझे ही अपनी पत्नी को माता कहना पड़ेगा ! किन्तु—

अब पछताये होत क्या, जब चिड़ियां चुग गईं खेत।

अरे मूर्ख ! पहले सोच लेता तो पीछे क्यों पछताना पड़ता ? अब क्या होता है पछताने से ! राई के भाव तो रात को ही चले गये।

आशय यह है कि मनुष्य को विचार करना चाहिए कि जहां तक संभव हो, अधिक से अधिक कर्म बांधने से बचे।

आदीश्वर भगवान् प्रथम तीर्थंकर थे, किन्तु कर्म के प्रताप से उन्हें भी एक वर्ष तक आहार-पानी नहीं मिला। वे धर्म अवतार थे, भगवान् थे, सर्वोत्तम पुण्य के पात्र थे, फिर भी कर्मों ने उनका लिहाज़ नहीं रक्खा। अतएव दुनिया के लोगो ! बचो, डरो, क्यों कर्म बांध कर दुख को आमंत्रण देते हो ? ज्यों-ज्यों कर्म बांधोगे, त्यों-त्यों आत्मा भारी होती जायेगी और नीचे डूबती चली जायेगी। ऋषभदेव भगवान् को एक वर्ष तक अन्न-पानी नहीं मिला और भगवान् महावीर स्वामी को इन्हीं कर्मों के कारण साढ़े बारह वर्ष तक कष्टपूर्ण तपस्या करनी पड़ी और भांति-भांति के उपसर्ग सहने पड़े।

तो मैं कह रहा था कि मन, वचन और काय के द्वारा जो क्रिया होती है, वह कर्म पर आश्रित है। जब कर्म करण मिट जायेगा तो शेष तीनों करण मिट जायेंगे। बिल्डिंग दीवारों के सहारे खड़ी होती है, अतएव जब दीवारें गिर जाती हैं तो बिल्डिंग भी खड़ी नहीं रह सकती। वह भी गिर जाती है। इसी प्रकार मन, वचन और काय करण छत रूप हैं और कर्म करण पाया रूप है। यह नहीं रहा तो वे भी मिट जायेंगे।

अब यह स्पष्ट हो गया कि कर्तृत्वभाव आत्मा में ही है। कोई और कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। आत्मा स्वयं ही अपनी सृष्टि का कर्त्ता है।

जीव क्रिया करता है, अतएव वही कर्मों से बद्ध होता है। क्योंकि जहां-जहां क्रिया है, वहां-वहां कर्मों का बंध भी अवश्य है। क्रिया तेरहवें गुणस्थान तक ही होती है, अतएव बन्ध भी वहीं तक ही होता है। चौदहवें गुणस्थान में आत्मा क्रियाहीन हो जाता है, अतएव वहां कर्मों के बन्ध से भी रहित हो जाता है। परन्तु ऐसा नियम नहीं कि जहां कर्मों की सत्ता है, वहां कर्मबन्ध भी अवश्य हो। छत के लिए खंभों का होना आवश्यक है, पर खंभों के लिए छत अनिवार्य नहीं है। खंभे छत के बिना भी रह सकते हैं, परन्तु छत खंभों के बिना नहीं रह सकती। हां, एक बात अवश्य है और वह यह कि छत के बिना खंभे भी अधिक दिन नहीं ठहर सकते। इसी प्रकार कर्मबंध के अभाव में कर्मों की सत्ता भी चिरस्थायी नहीं हो सकती।

मेरी बात समझने के लिए आत्मिक बोध आवश्यक है। वह पर्याप्त न हुआ तो गड़बड़ में पड़ जाओगे और डगमगाने लगोगे।

आशय यह है कि चौदहवें गुणस्थान में कर्म तो हैं, किन्तु कर्म का बन्ध नहीं है, क्योंकि वहां क्रिया का अभाव है। जहां क्रिया होती है, वहीं कर्मबन्ध होता है। परन्तु जहां कर्म की सत्ता है, वहां क्रिया हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिया कर्म शेष रहते हैं, किन्तु क्रिया नहीं है और क्रिया नहीं है तो नवीन कर्मबन्ध भी नहीं है। वहां मन, वचन और काय रूप करण नहीं हैं। क्रिया मन, वचन और काय के व्यापार से होती है, परन्तु वहां इनके व्यापार का सर्वथा अभाव हो जाता है।

भद्र पुरुषो! समय निकल जाता है, बात रह जाती है। यह सुनहरी जीवन बार-बार मिलने वाला नहीं है। अतः इसे पाकर किसी का भला कर सको तो करो। दूसरों के भले में ही अपना भला है। परोपकार आत्मोपकार का ही एक रूप है। फिर भी कदाचित् परोपकार करते न बन पड़े तो कम से कम किसी का बुरा तो न करो। किसी का अहित न सोचो। अहितकर एवं अप्रिय वचनों का प्रयोग न करो। अपने मन, वचन और काय को दूसरों के अहित में न लगाओ। दूसरों का अहित करने चलोगे तो पहले अपना ही अहित कर बैठोगे।

आज दुनिया में एक मानसिक द्वन्द्व चल रहा है। कोई समझता और कहता है कि तदबीर बड़ी है और इसके विरोध में दूसरे दावा करते हैं कि—तदबीर नहीं, तकदीर बड़ी है। मैं इस वैचारिक द्वन्द्व को साफ कर देना चाहता हूं। तकदीर और तदबीर वस्तुतः परस्पर विरोधी अथवा सर्वथा पृथक् दो सत्ताएं ही नहीं हैं। आप वर्त्तमान काल में जो क्रिया कर रहे हैं, वह तदबीर है

और जो क्रिया कर चुके, वह तकदीर वन गई है। आखिर फूल से ही फल वनता है। फूल न होगा तो फल कहां से आयेगा ? अतएव दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। फूल के अभाव में फल नहीं होता ; परन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि फल के विना फूल भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार तकदीर के विना तदवीर और तदवीर के विना तकदीर नहीं होती।

भद्रपुरुषो ? यह संसार तकदीर और तदवीर—दोनों पर टिका है। दोनों में से एक के भी अभाव में काम नहीं चलता। तकदीर से तुम्हें पदार्थ मिलते हैं, भोग्य और उपभोग्य पदार्थों का संयोग प्राप्त होता है और सब प्रकार की अनुकूल परिस्थिति मिलती है, परन्तु भोगने अर्थात् काम में लाने के लिए तो तदवीर (क्रिया) करनी ही पड़ेगी।

इस प्रकार तकदीर और तदवीर का स्वरूप समझ कर किसी भी एकान्त की भ्रमणा में नहीं पड़ना चाहिए और अपनी क्रियाओं में अप्रशस्तता न आने देकर प्रशस्तता लानी चाहिए ; क्योंकि आज की शुभ क्रिया ही भविष्य में आपका सौभाग्य वनेगी और अशुभ क्रिया ही दुर्भाग्य के रूप में आयेगी। इस प्रकार आप अपने दैव के खिलौने नहीं हैं, परन्तु दैव आपका खिलौना है। अपने भाग्य का निर्माण करना आपके हाथ में है। आज आप चाहें तो अपने लिए भविष्य का सौभाग्य निर्मित कर सकते हैं और चाहें तो दुर्भाग्य की भी सृष्टि कर सकते हैं। आपका स्वर्ग और नरक पूरी तरह आपकी ही मुट्ठी में है। आप अपने भाग्य के पूर्ण अधीश्वर हैं।

आप चाहते हैं कि हमें सुख-प्राप्त हो, आनन्द का उपभोग करें और दुनिया की समस्त विपदाएं और व्यथाएं आपसे बहुत दूर रहें। यह ठीक है। अन्य प्राणी भी ऐसा ही चाहते हैं। क्योंकि आत्मा का स्वाभाविक गुण सुख है और उसकी ओर सहज आकर्षण होना अनिवार्य है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या अभिलाषा करने मात्र से किसी की अभिलाषा पूरी हो सकती है ? ऐसा कहीं देखा नहीं जाता ! अगर इच्छा मात्र से इच्छित वस्तुएं प्राप्त होने लगतीं तो संसार के समस्त प्राणी सुखी ही सुखी दृष्टिगोचर होते और फिर भगवान् इच्छा का परित्याग करने की बात क्यों कहते ? अतएव स्पष्ट है कि इच्छा करने मात्र से किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। कार्यसिद्धि के लिए उपाय करना पड़ता है।

आप जानते ही हैं कि चार साधनों के बिना भूख भी नहीं मिटाई जा सकती तो मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है ? मुक्ति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त करने वाले आत्मा का अस्तित्व अंगीकार करना चाहिए। यह प्रथम साधन है। फिर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र भी होने चाहिएं। इस प्रकार मोक्षप्राप्ति के चार साधनों में से एक भी साधन कम होगा तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

इस प्रकार मोक्ष-मोक्ष की रट लगाने वाले तो बहुत हैं, परन्तु उसके स्वरूप और साधन को समझने वाले कम हैं। यह समझ और समझ के अनुसार अमल मनुष्य जीवन में ही हो सकता है। अतएव जिन्हें मनुष्य जीवन मिल गया है, उन्हें नये कर्म नहीं बांधना चाहिए। जीवन में पहले के कर्मों का तो भुगतान ही नहीं हो रहा है और मनुष्य नये-नये कर्म बांधता जा रहा है। ऐसा विचार मनुष्य को

अवश्य करना चाहिए ; क्योंकि विचार के बिना सब क्रियाएं बेकार साबित होती हैं। कहा भी है:—

नाम जपंता सौ सुख हरे, चुप हरे दुःख हजार।
गुरु-चरण लख दुख हरे, सब दुख हरे विचार॥

सब दुःखों को विनष्ट करने वाला विचार है, विवेक है और धर्म भी विवेक में ही है।

शास्त्रों ने तुम्हारे हलन-चलन, खान-पान और रहन-सहन आदि किसी भी काम पर पाबंदी नहीं लगाई है ; केवल यही कहा जाता है कि जो भी क्रिया की जाये, वह विवेकयुक्त हो—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भु ो भासंतो, पावकम्म न बंधइ॥

—दशवैकालिक सूत्र ४ अ०

ओ मनुष्य ! तुझे खाना होगा, चलना होगा, खड़ा रहना होगा और बोलना भी होगा—जीवन की सब क्रियाएं करनी होंगी, करनी ही पड़ेगीं किन्तु यदि तू प्रत्येक क्रिया विवेक-सहित करेगा, यत्नपूर्वक करेगा, तो तुझे कर्म बंधन नहीं होगा।

उपर्युक्त गाथा का भाव यह है कि जो अयत्न पूर्वक क्रियाएं करने से कर्म बंध होना था, वही यत्नपूर्वक करने से नहीं होगा।

यह मनुष्य जीवन सर्वोपरि है। इसे प्राप्त करने के लिए देवता भी तरसते हैं। यही जीवन तुझे आज सद्भाग्य से मिल गया है। पर स्मरण रख; निन्दा करके, चुगली करके तथा अन्य प्रकार के पाप करके आत्मा को मलीन और भारी बनाने के लिए नहीं है। मनुष्यजीवन पाकर अपने पापों की आलोचना करनी चाहिए, पापों का परिशोधन करना चाहिए और आत्मा को निर्मल बनाने का निरन्तर प्रयास

करना चाहिए। मकान को प्रतिदिन स्वच्छ किया जाता है, अन्यथा उसमें कूड़ा-कचरा जमा हो जाता है। फिर अपने घर का कचरा तो साफ किया नहीं, ऊपर से दूसरे के घर का कचरा भी लाकर बिखेर लिया तो गंदगी और अधिक बढ़ेगी। परनिन्दा करना दूसरे के घर का कचरा अपने घर में डालना है। अतएव इस गंदगी से बच कर गुणी जनों के गुणों का गान करो। जिह्वा की सफलता इसी में है।

तुम्हारे पास जो भी शक्ति है, उसके अनुसार ज्ञान, दर्शन और चरित्र की साधना करते चलो, जिससे तुम्हारा कल्याण हो और आत्मा का उत्थान हो। यह साधना मानव-जीवन में ही हो सकती है। अगर तुम दूसरे का माल लेकर साहूकार बनना चाहोगे तो यह ढोल की पोल चलने वाली नहीं है।

किसी ग्राम में एक ब्राह्मण रहता था। वह न लिखा-पढ़ा था और न चुस्त-चालाक था। सीधा-सादा गऊ-स्वभाव का था। किन्तु उसकी पत्नी विदुषी थी। मगर घर में पूर्वजों द्वारा उपार्जित कुछ माल भी नहीं था, जिससे उनका पारिवारिक जीवन सुख-शान्ति के साथ व्यतीत हो सकता। अतएव ब्राह्मणी ने अपने पति से कहा—कुछ कमाकर लाओ। न कमाओगे तो निर्वाह होना कठिन है।

ब्राह्मण बोला—मैं तो कुछ जानता नहीं। तुम्हीं कोई उपाय सुझाओ, जिससे अच्छी तरह गुज़र हो सके।

पण्डितानी ने कहा—मैं उपाय बतलाती हूं। कल से तुम कागज़ पेंसिल और एक आसन लेकर बाजार के चौक में बैठ जाओ।

आते-जाते से कहते रहो कि किसी को कुछ प्रश्न करना हो तो करे। प्रश्नकर्त्ता को दूसरे दिन उचित उत्तर मिलेगा।

अपनी पत्नी के कथनानुसार ब्राह्मण लम्बा-चौड़ा साइनबोर्ड लगा कर, बाजार में मौके की जगह देख कर जम गया। लोग आते-जाते थे और पूछते कि—क्या बात है? तब वह कहता, मैं पण्डित हूं और सब के प्रश्नों का उत्तर देता हूं।

यद्यपि उसमें कोई योग्यता नहीं थी, तथापि उसे अपनी पण्डितानी पर पूरा भरोसा था और उसी के बल पर वह बीच बाजार में बैठ कर गूंजता था। कई लोगों ने उसे अपने-अपने प्रश्न लिखवा दिये और दूसरे दिन लिखित रूप में उन्हें सन्तोषप्रद और सही उत्तर मिल गये। इससे पंडित की प्रतिष्ठा दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती गई। यहां तक कि राजा के कानों तक भी बात पहुंची। राजा ने भी पण्डित को बुलवाया। वह राजदरबार में गया। राजा ने पूछा—आप हमारे प्रश्न का उत्तर देंगे?

ब्राह्मण—अवश्य दूंगा पर दूसरे दिन।

राजा—अच्छा, 'गर्वा कहा कराय' इस समस्या की पूर्त्ति करके लाओ।

ब्राह्मण—राजन्! कल आपकी समस्या पूर्ण करके पेश कर दी जायेगी।

ब्राह्मण घर लौट आया। उसने अपनी स्त्री के सामने समस्या रख दी। स्त्री विदुषी थी ही, उसने फौरन उसकी पूर्त्ति कर दी—

बालपने माता मरे, जवानी में धन जाये।
वृद्धपने पुत्र मरे, गर्वा कहा कराय?॥

दूसरे दिन ब्राह्मण ने दरबार में जाकर समस्यापूर्त्ति सामने रख दी। समस्यापूर्त्ति सुन कर राजा को सन्तोष हुआ। उसने मन्त्री से कहा—यह पण्डित बड़ा विद्वान् है। जिस ढंग से मैं चाहता था, उसी ढंग से इसने समस्यापूर्त्ति की है। इसने लिखा है, जब बाल्यावस्था में माता मर जाये, जवानी में धन चला जाये और बुढ़ापे में बेटे की मृत्यु हो जाये, तो मनुष्य किस चीज़ पर गर्व करे? उसके पास अभिमान करने की बात ही कौन-सी है? अच्छा मन्त्री, इस पण्डित को सन्तोषजनक पारितोषिक दे दीजिये।

मंत्री बोला—अभी थोड़ी और परीक्षा कीजिये। बाद में पारितोषिक दीजियेगा।

राजा ने यह सुनकर दूसरी समस्या और रख दी—'किस मुख घालूं खीर।' इस समस्या को लेकर वह अपने घर गया। उसने पण्डितानी से कहा—इस बार तो बड़ी विकट-सी समस्या है। उसने कहा—चिन्ता न कीजिये। मैं सब आसान कर दूंगी। यह तो मामूली बात है और उसने तीन चरण पूरे कर दिये, जो इस प्रकार थे—

माता रावण जनमियो, दस मुख एक सरीर।
मात मन में चिन्तवे, किस मुख घालूं खीर॥

ब्राह्मणी बड़ी होशियार थी। उसने 'चट रोटी पट दाल' और 'चट मंगनी पट विवाह' वाली कहावत चरितार्थ कर दिखाई। पण्डितजी दूसरे दिन फिर दरबार में पहुंचे। राजा ने सम्मान के साथ उसे अपने समीप बिठलाया और कहा—'आशा है आप मेरी दी हुई समस्या की पूर्त्ति कर लाये होंगे।'

ब्राह्मण ने विधानात्मक ढंग से संकेत करते हुए कहा—जी हाँ, समस्यापूर्त्ति तैयार है।

जब ब्राह्मण ने समस्यापूर्त्ति सुनाई तो राजा का दिल बाग-बाग हो गया। उसने मंत्री से कहा—पण्डितजी कितने विद्वान् हैं! मेरे प्रश्न के उत्तर में कोई कसर नहीं रही। मैंने प्रश्न किया था—'किस मुख में खीर डाली जाये?' इन्होंने उत्तर दिया है कि रावण के दस मुख थे। अतएव उसकी माता सोच-विचार में पड़ गई कि किस मुख में खीर डालूं। बहुत अच्छा उत्तर है। पण्डितजी को इनाम दे दिया जाये।

मंत्री ने उत्तर दिया—हुजूर जल्दी क्या है! तेल देखिये, तेल की धार देखिये। इतनी जल्दी धन मत लुटाइये। एक सेठ अपने अंधे लड़के को येन केन प्रकारेण कुछ ले-देकर विवाहने गया। भाग्योदय से रात्रि में फेरे हो गये। विवाह के बाद बारात रवाना हुई और वधू डोली में बैठ कर सासरे के लिए चलने लगी तो सेठ ने उछाल करने के लिए थैली का मुँह खोला। वह भर-भर मुट्ठियां रुपया फेंकने लगा। तब लड़की की मां ने कहा—आप जिसके लिए इतना खर्च कर रहे हो, वह ऐसी रकम नहीं है! वह फिर बोली—

साहजी! धन खरचो लेखे लेखे,
मारी छोरी एक आँख से देखे।

तब सेठ ने उत्तर दिया—

सेठानी! भली विचारी बात।
म्हारो छोरो दिन देखे ना रात॥

तो मंत्री ने कहा—महाराज, जल्दी न कीजिये। एक बार फिर परीक्षा कर लीजिये और बाद में उचित जंचे तो इनाम दीजिये।

राजा ने मंत्री की बात मान कर फिर एक समस्या रक्खी। वह थी—'बिरला देख्या कोय।'

पण्डित ने सहर्ष समस्या लेकर घर में प्रवेश किया और अपनी पंडितानी से कहा—इस बार तो बड़ी ही विकट समस्या पूर्त्ति के लिए दी है राजा ने !

किन्तु सज्जनो ! ब्राह्मणी साक्षात् सरस्वती कन्या के समान थी। क्यों न होती ? उसने किन्हीं अंशों में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया था और विद्याभ्यास के लिए श्रम भी किया था। किन्तु आज तो जिनके ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है और जो वछिया के फुफ्फे निरक्षर भट्टाचार्य है, जिन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है, वे भी सरस्वती के पूत होने का दावा करते हैं। किन्तु कर्म-सिद्धान्त के पीछे स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है। यह तो मैदान की गेंद है। जो चाहे उसे उठा सकता है।

हां, तो ब्राह्मणी ने समस्या की पूर्त्ति करके ब्राह्मण को दे दी। ब्राह्मण ने दरबार में जाकर वह पूर्त्ति उपस्थित कर दी। राजा ने मंत्री को देकर कहा—पढ़ो, क्या लिखा है ? मंत्री ने पढ़ कर सुनाया :—

सात समुन्दर में फिरी, जग लीना जोय।
साधु सती और सूरमा, बिरला देख्या कोय ॥

समस्यापूर्त्ति पढ़ते ही मंत्री ने कहा—महाराज ! आज सारी कलई खुल गई। मैंने कहा था कि जल्दी मत कीजिये, परीक्षा लेते जाइये। पानी जितना गहरा होगा, सामने आजायेगा। अब मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि यह सब पण्डिताई इन ब्राह्मण

महाशय की नहीं है। यह विद्वत्ता और कला किसी श्रीमतीजी की है।

सज्जनो ! अधिकांश राजा प्रायः बुद्धू होते हैं। राज्यकार्यों का संचालन मंत्रियों की बुद्धिमत्ता से होता है। इस राजा का भी मंत्री बुद्धिमान् था, पर राजा स्वयं बुद्धू था। उसने समस्यापूर्त्ति सुनी तो कह दिया—वाह ! क्या ही खूब अक्लमंद ने लिखा है ! अच्छा, अब इन्हें इनाम दे दो, अधिक प्रतीक्षा मत कराओ। किन्तु जब मंत्री ने समस्यापूर्त्ति के शब्दों की ओर बारीकी से ध्यान देने को कहा और कहा कि यह रचना इनकी है या इनकी पण्डितानी की है ? 'सात समुन्दर में फिरी' यह शब्द लिखने वाला पुरुष हो सकता है या स्त्री ?

राजा ने ध्यान दिया तो वह भी मंत्री की बात समझ गया कि यह रचना पुरुष की नहीं, स्त्री की होनी चाहिये। यह रचना अगर वास्तव में किसी स्त्री की है तो यह ब्राह्मण अपने पाण्डित्य का दावा कैसे कर सकता है ? आखिर ब्राह्मण से जब तथ्य पूछा गया तो उसने स्पष्ट कह दिया—'महाराज ! मैं बिल्कुल अज्ञानी हूँ। यह सब होशियारी और पण्डिताई, जो आप देख रहे हैं, मेरी पत्नी की है ! मैं गरीब ब्राह्मण हूं और आजीविकानिर्वाह के लिए मैंने यह यत्न किया है।

सज्जनो ! झूठ बहुत दिनों तक चलने वाला नहीं है ! आखिर जम्बुक शेर की खाल में कब तक छिपा रह सकता है ?

'फिरी' शब्द से खुल गया, पण्डि ी का भेद।
वामा पाई इनाम है, पंडित पाया खेद ॥

केवल 'फिरी' शब्द से सारी बाजी फिर गई। मंत्री ने ब्राह्मण की विद्वत्ता की परीक्षा कर ली। उसका पर्दा फाश हो गया। विवश

होकर सचाई पर आना पड़ा । ब्राह्मण को लज्जित होना पड़ा और उसकी पण्डितानी को आदरपूर्वक दरबार में बुलाया गया और उसकी प्रशंसा की गई। राजा ने कहा—अहो देवी, हम तेरी पण्डिताई देख कर बहुत प्रसन्न हैं और तुम्हें इनाम देते हैं।

राजा ने उनका दुःख दूर कर दिया और ऐसी स्थिति का निर्माण कर दिया, जिससे वे सुखमय जीवनयापन कर सकें। फिर उन्हें किसी चीज़ की कमी न रह गई।

तो मैं कहना चाहता हूं कि काम तो कोई करे और मुक्ति में तुम जाना चाहो तो यह कैसे हो सकता है ? ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना किसी ने की हो और मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहें आप, यह न कभी हुआ न होगा। ऐसा होने लगे तो कृत-नाश और अकृतागम नामक दोष होंगे। अर्थात् जिसने रत्नत्रय की आराधना की, वह तो अपने किये कर्म के फल से वंचित रह जायेगा और जिसने कार्य नहीं किया, वह बिना किये ही फल का भागी हो जायेगा। एक आचार्य ने बड़ा अच्छा कहा है—

परेण दत्तं यदि भुज्यते ततः
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं स्यात्।

अर्थात् अगर दूसरे के दिये फूल को जीव भोगने लगे तो उसके निज के कर्म निरर्थक हो जायें।

वास्तविकता यह है कि कर्म का फल उसके कर्त्ता को ही प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं। अतएव अपना कल्याण चाहते हो तो स्वयं कल्याणकारी प्रवृत्ति करो। दूसरों के भरोसे न रहो। तुम्हारा हित-अहित तुम्हारे ही हाथ में है, दूसरे किसी के हाथ में नहीं है। जैसे दूसरों के भोजन करने से तुम्हारी तृप्ति नहीं हो सकती, उसी

प्रकार दूसरों की क्रिया से मुक्ति भी नहीं हो सकती। ऐसा समझ कर और श्रद्धान करके जो भव्य जीव मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करेंगे, वही संसार-सागर को पार करेंगे। याद रखिये, अभिलाषा मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं होगी। मुक्ति की अभिलाषा के साथ-साथ तदनुकूल उद्योग करना अनिवार्य है। उद्योगी पुरुष ही सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ब्यावर
२६-८-५६

: ९ :

सम्यक्त्व ही दिल है

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
चार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

उपस्थित महानुभावो !

मनुष्य का शरीर कितना ही लम्बा-चौड़ा क्यों न हो, कितना ही हृष्टपुष्ट, शक्तिशाली और दैत्याकार क्यों न हो, शरीर में यदि दिल नहीं है तो सब व्यर्थ है ! हृदय-विहीन स्थूल काया मिट्टी का पुतला मात्र होगी जो किसी प्रदर्शिनी में रखने योग्य हो सकता है, परन्तु कार्यक्षम नहीं हो सकता। हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि जिसके मस्तक, भुजाएँ, सीना, जांघें, पीठ, पैर आदि अंग भीमकाय हैं और जिसके उस महान् शरीर में बड़ा सामर्थ्य, बल और शक्ति सागर की तरह हिलोरें ले रही है, उस रावण के से शरीर में भी यदि दिल न हुआ, तो उसका कोई मूल्य नहीं है ! अरे, उस शरीर की क्या कीमत है और क्या वुक़त है ?

स्मरण रखना चाहिए कि समस्त इन्द्रियां, अंग-प्रत्यंग हैं और जितने अवयव हैं, वे सब के सब तब तक ही काम करते हैं, जब तक शरीर के साथ दिल का घनिष्ठ संबंध है। इस शरीर का सारा कठपुतली वाला नाच-कूद केवल दिल के बल पर ही हो रहा है। शरीर की समस्त चेष्टाएं और क्रियाएं दिल के

सद्भाव में ही हो रही हैं और यह दिल ही है उन तमाम क्रियाओं का सूत्रधार ! दिल की गति मंद हो जाती है, उसकी हरकत में कमी आ जाती है तो शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंगों की शक्ति भी कम हो जाती है और यदि दुर्भाग्य से दिल की गति बिल्कुल बंद हो जाती है, तो समस्त शारीरिक क्रियाएं भी समाप्त हो जाती हैं। हाथी की सूंड की भांति लटकती हुई लम्बी-लम्बी भुजाएं, लम्बा-चौड़ा ललाट, फूला हुआ सीना और दूसरे अंग-उपांग सब के सब निष्क्रिय हो जाते हैं।

मस्तिष्क में चिन्तन करने की क्रिया थी, विचारने की शक्ति थी, वह बड़ी-बड़ी विकट समस्याओं को आसानी से सुलझा लेता था, सदियों से उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा देना चुटकियों का खेल था, पर आज वही मस्तिष्क हृदयस्पन्दन के अभाव में बेकार हो गया है। जिन भुजाओं से वह बड़े-बड़े प्रतिपक्षियों को परास्त कर देता था, समरभूमि में जिसकी अनोखी धाक थी, जिन आंखों से दूर के और बारीक से बारीक पदार्थों को देख लेता था, जिसकी ओर कोपदृष्टि से देख लेता तो उसके होशहवास गायब हो जाते थे, आज हृदय के अभाव में सब क्रियाहीन पड़े हैं। इसी प्रकार शरीर के अन्यान्य अंगोपांग भी दिल की गतिशून्यता के कारण क्रियाशून्य हो जाते हैं। जो कान मंद ध्वनि को भी सुन लिया करते थे, आज उनमें वह शक्ति नहीं रही। वही रसना आज मौजूद है जो नाना प्रकार के रसों का आस्वादन करने के लिए लार टपकाया करती थी और सहज ही रसों का आस्वादन कर लिया करती थी और बतलाती थी कि यह मीठा है, यह खट्टा है, यह तीखा है आदि; किन्तु आज उसमें रसास्वादन करने की

शक्ति नहीं रह गई और जो स्पर्शनेन्द्रिय आठों ही स्पर्शों का बखूबी पता लगा लेती थी और जानती थी कि यह हल्का और यह भारी है, पर आज दिल के अभाव में उसकी भी शक्ति समाप्त हो गई है।

तात्पर्य यह है कि तमाम इन्द्रियां, शरीर के सब अंग और प्रत्यंग तब तक ही जीवनोपयोगी कार्य करते हैं, जब तक दिल की धड़कन शरीर में मौजूद है। जब तक शरीर के भीतर की घड़ी टक्-टक् और धक्-धक् करती रहती है, तभी तक आपको अनवरुद्ध गति से सारा टाइमटेबिल मिलता रहता है। घड़ी में यद्यपि सभी पुर्जे—फनर, सुई, शीशा आदि—मौजूद हैं, परन्तु यदि उसकी टक्-टक् बंद हो जाती है, तो घड़ी बेकार हो जाती है। उसे रखने का उद्देश्य पूरा नहीं होता। इसी प्रकार जब तक शरीर में धक्-धक् की गतिशीलता है, तब तक शरीर संबंधी तमाम क्रियाएं होती रहती हैं। मगर हृदय की गति अवरुद्ध हो जाने पर समस्त शारीरिक क्रियाएं भी अवरुद्ध हो जाती हैं।

उसके पश्चात् मानवदेह मिट्टी के पुतले के रूप में परिणत हो जाता है और फिर चार आदमी उस मुर्दे को श्मशान में ले जा कर जला या गाड़ देते हैं। देखो जिसके लिए सब को नाज़ था और जिसके लिए अपने प्राण भी—सर्वस्व भी—निछावर करने को तैयार रहते थे, उसी शरीर को आज भस्म कर देने के लिए सब प्रेमी चिता बना रहे हैं! इतना महान् परिवर्तन क्यों हो गया? यह दर्दनाक प्रसंग क्यों उपस्थित हुआ? कारण यही कि उसमें दिल की धड़कन न रही। दिल चल रहा है तो दुनिया चल रही है और दिल की चाल बंद है तो दुनिया में प्रलय है!

किन्तु जो उदित होता है, वह अस्त भी होता है और जो बनता है, वह बिगड़ता भी है। जिसका जन्म है, उसका मरण भी अवश्यंभावी है। निश्चित रूप से प्रकृति का यह अटल नियम चलता ही रहता है। तो इतने बड़े डीलडौल वाला शरीर भी छोटी-सी चीज़ पर निर्भर है, क्योंकि दिल ज्यादा जगह नहीं रोकता है। बड़ी-बड़ी मशीनें होती हैं दैत्याकार ! मगर एक छोटे से पुर्जे में खराबी आ जाने पर सारी मशीन ठप हो जाती है। एक बार मैंने अखबार में पढ़ा था—मोटे शीर्षक में छपा था—चूहे ने रेल रोक दी ! इस आकर्षक शीर्षक को जब चिल्ला-चिल्ला कर पत्र-विक्रेता लोगों को सुनाते, तो उनके दिल भी अखबार खरीदने को हो जाते थे और इस प्रकार बात बनाने की कीमत वसूल हो गई और अखबार की हजारों प्रतियां बिक गईं। किन्तु जब समाचार पढ़ा तो लिखा था कि एक चूहा पुर्जे में फंस गया, अतएव इंजिन की गति अवरुद्ध हो गई और इस प्रकार रेल रुक गई। लोगों ने पढ़ कर जरूर शाबाशी दी होगी कि—वाह रे रुस्तम पहलवान ! तूने सारी दुनिया को अपनी पहलवानी का कमाल दिखा दिया !

सज्जनो ! दुनिया में आश्चर्य में डाल देने, उल्लू बना देने, लड़ा देने, हंसा या रुला देने आदि की शक्ति इन्सान के दिमाग में है। वह चाहे तो बनी को बिगाड़ दे और चाहे तो बिगड़ी को सुधार दे। मोल बात करने की कला का है। बात करने की कला नहीं है तो बादाम पड़े रह जाते हैं और भूंगड़े—चने—बिक जाते हैं। इसी प्रकार जब तक कोई बोलता नहीं है, तब तक उसकी शरीराकृति और वेष-भूषा का रोब सब पर ग़ालिब रहता है, किन्तु ज्यों ही जीभ से बोल निकले कि सारी कलई खुल जाती है।

सज्जनो ! वह बोलना किस काम का जिससे दूसरों को और स्वयं को भी लाभ न हो ? ऐसे बोलने की अपेक्षा तो मौन रखना ही अच्छा है कि जिससे अपनी हंसी हो और दूसरे को हानि पहुंचे।

इंजिन हजारों छोटे-छोटे पुर्जों के समूह से बना होता है। उनमें से किसी एक छोटे-से पुर्जे में रुकावट या गड़बड़ हो जाने से सारी मशीन में रुकावट आ जाती है। इसी प्रकार हमारे शरीर में कितनी ही नसों का जाल फैला हुआ है। सब नसें परस्पर में संबद्ध हैं। मगर उन सब पुर्जों में जो महान् पुर्जा है, वह दिल है जो सभी पुर्जों को हरकत देता है। उसकी गति रुक जाती है तो सम्पूर्ण शरीर निष्प्राण और निश्चेष्ट हो जाता है। लम्बा-चौड़ा वायलर कोयले के अभाव में ठंडा पड़ जाता है।

तो ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि मनुष्य जो दौड़ता है, भागता है, अपनी शारीरिक या मानसिक शक्ति द्वारा, बात की बात में, कठिन से कठिन कार्य कर डालता है, उस सब का अगर कोई आधार है तो वह दिल है। दिल की गति रुक जाने पर मनुष्य स्कीमें सोचता-सोचता ही बाज़ार में, घर में या मुसाफिरखाने में लुढ़क जाता है।

भद्र पुरुषो ! ठीक यही सूत्र धर्म के विषय में भी लागू होता है। चाहे किसी धर्म के ठेकेदार, भक्त या अनुयायी अपने धर्म को उच्च कोटि का सर्वोपरि मनवाने का दुस्साहस क्यों न करते हों, उसका विधि-विधान एवं अनुष्ठान कितना ही कठोर से कठोर क्यों न हो और उन कठोर क्रियाओं को करने वाले कितनी ही विशाल संख्या में क्यों न मौजूद हों और उसका तत्वज्ञान चाहे कितनी ही सुदृढ़ भूमिका पर क्यों न टिका हो, किन्तु जब तक

उसमें सम्यग्दर्शन रूपी दिल की धड़कन नहीं है, टिक्-टिक् नहीं है, तब तक कुछ भी नहीं है ! धर्म के जो नियम और उप-नियम आदि हैं, उन्हें शरीर के अंग-उपांगों और अवयवों के स्थान पर समझना चाहिए। और वे भी महत्त्व के हैं, क्योंकि अपने-अपने स्थान पर सभी की उपयोगिता है। सभी अपनी-अपनी जगह काम करते हैं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोपरि महत्त्व जैसे शरीर में दिल का है, उसी प्रकार धर्म में सम्यग्दर्शन का है।

धर्म में प्रभुस्मरण, दान, पुण्य, जप, तप, अनुष्ठान आदि-आदि धर्म-शरीर के अंग-उपांग हैं और सभी का अपना-अपना अनूठा उपयोग है। इनमें से कोई भी अंग निष्प्रयोजन नहीं है; मगर उनकी उपयोगिता का मूल्य तभी है, जब उनमें सम्यग्दर्शन रूपी दिल है। धर्म रूपी पुरुष का सम्यग्दर्शन हृदय है। यदि यह दिल फेल हो जाता है और आत्मा की सम्यग्दर्शन रूपी गति रुक जाती है तो समझ लीजिए कि धर्म का वह सारा अनुष्ठान गतिहीन हो जाता है और उस धर्म का वही मूल्य रह जाता है जो हृदयविहीन शरीर का।

शास्त्रीय दृष्टि से, बौद्धिक दृष्टि से और क्रियाशीलता की दृष्टि से वही शरीर, शरीर माना जाता है, जिसमें हृदय हो। हृदय के अभाव में वह मिट्टी का ढेर है। स्थूल लौकिक दृष्टि से उसे भले शरीर कह लिया जाये, किन्तु शरीर संबंधी अर्थक्रिया के अभाव में निश्चयदृष्टि से—लोकोत्तर दृष्टिकोण से—वह शरीर नहीं है। लौकिक दृष्टि वाले दुनियादार उसको शरीर कहें तो भले कहें, किन्तु शरीर तब तक ही शरीर था जब तक वह क्रियाशील था। जब उसमें शरीर संबंधी क्रिया न रही तब वास्तविक दृष्टि से वह

शरीर ही नहीं रहा। वह मिट्टी का ढेला है, बल्कि मिट्टी से भी निकृष्ट और निकम्मा है। मिट्टी से हाथ और बरतन तो मांज लिये जाते हैं और शुचि की जाती है, परन्तु मुर्दा शरीर के स्पर्श से तो शुचि पदार्थ भी अशुचि हो जाते हैं, ऐसा माना जाता है। उसे इतना अपवित्र मानते हैं कि उसके पास फटकने मात्र ही से आपको स्नान करना पड़ता है। जरा विचार तो कीजिये कि थोड़ी देर पहले इस शरीर की क्या रचना थी और अब क्या हो गई है ? आखिर उसमें क्या परिवर्तन आ गया है ? हृदय का स्पन्दन ही तो बंद हो गया है न ? उसी ने शरीर को किस स्थिति से किस स्थिति पर पहुंचा दिया !

यह शरीर रूपी बिल्डिंग दिल रूपी स्तंभ के आधार पर है तो वह सैंकड़ों, हजारों या लाखों वर्षों तक ही नहीं, वरन् तेंतीस सागरोपम तक उसी हृदय-स्तंभ पर टिकी रहती है। जिस शरीर का रूप स्वर्गीय-दिव्य शरीर का प्रतिरूप जान पड़ता था, जिस देह की कान्ति को लोग आँखें फाड़-फाड़ कर देखा करते थे और देखने के लिए उत्कंठित बने रहते थे और नेत्र जिस की ओर बलात् आकर्षित होते थे, उसी शरीर को अब कोई देखना भी पसंद नहीं करता और देख-देख कर कहते हैं—इसे जल्दी जलाओ। कहीं-कहीं तो मुर्दे को रात में भी घर में नहीं रहने देते, रात्रि को ही जला आते हैं। आखिर दुनिया स्वार्थी है न ! वह सोचती है कहीं दिन को ले जायेंगे तो व्यापार-धन्धा करने में बाधा पड़ेगी !

समझो, दुनिया के लोगो ! समझो। एक छोटी-सी किन्तु अनमोल चीज़ निकल जाने से सारी सृष्टि ही बदल गई।

तो मैं कहने जा रहा था कि यह शरीर लम्बे काल तक भी विकसित और हरा-भरा रह सकता है, किन्तु तभी तक, जब तक कि उसमें टक्-टक् और धक्-धक् की हरकत है, हृदय का स्पन्दन है। उसके अभाव में आत्मीय जन ही शरीर को नहीं रहने देते। या तो अग्नि को भेंट कर देते हैं या पृथ्वी की गोद में सुला देते हैं। अभिप्राय यह है कि शरीर में जो स्थान हृदय का है, धर्म में वही स्थान सम्यग्दर्शन का है।

सम्यग्दृष्टि के सामने सारी सृष्टि सत्य स्वरूप में प्रतिभासित होने लगती है। चाहे किसी भी प्रकार का सिद्धान्त हो, निशीथ हो या भगवती हो, वेद हो या पुराण हो, कुरान हो अथवा बाइबिल हो, किसी भी सम्प्रदाय का या धर्म का ग्रन्थ हो, सम्यग्दृष्टि के लिए वह सत्य रूप में ही परिणत हो जाता है। यहां यह बात नहीं कि हमारी छाछ भी मीठी और दूसरे का दूध भी मीठा नहीं।

जिस धर्म में से श्रद्धा रूपी हृदय निकल गया, वही धर्म धर्म न रह कर धर्म की लाश रह गई समझो। जैसे मुर्दा शरीर मिट्टी का ढेर है, उसी प्रकार सम्यक्त्व हीन धर्म धर्म की लाश है। यदि उस मुर्दे से काम हो तो श्रद्धाहीन धर्म से भी कल्याण हो। इसी कारण सम्यग्दर्शन को महान् या उच्च स्थान दिया गया है। सम्यग्दर्शन ही समस्त क्रियाओं में जान डालने वाला है, उनका संचालन करने वाला है। जिसमें सम्यग्दर्शन है, उसी का तप सम्यक्तप है। उसी की क्रिया में बल है, शक्ति है, प्राण है, जान है, आन है, शान है और आत्मा का उत्थान है और उन्हीं क्रियाओं से अन्ततः निर्वाण है।

जिन क्रियाओं में से सम्यग्दर्शन रूपी दिल निकल जाता है, वे सभी क्रियाएं निष्प्राण हो जाती हैं। सम्यक्त्व के अभाव में अनन्त

तक की हुई क्रियाएं भी निष्फल हैं, उनसे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर ने कहा है कि तू संसार की तरफ न देख कर अपनी तरफ देख। दुनिया तो इधर-उधर चारों ओर घूम रही है, कोई किसी के साथ और कोई किसी के साथ। किन्तु तुझे तो अपने रास्ते पर चलना है। यह कोई सिद्धान्त या समझदारी की बात नहीं कि यह वहां जा रहा है तो मैं भी जाऊं। तू भी चलेगा और वह भी चलेगा; किन्तु रास्ते तो दोनों के भिन्न-भिन्न हैं। फिर उसके रास्ते पर चलने से क्या काम चलेगा ? जिनको नीची गति में जाना है, उनके लिए मिथ्यात्व का रास्ता है और तुझे ऊंची गति में जाना है तो तू समकित के रास्ते पर चल। कोई कुएं में पड़ना चाहेगा तो क्या तू भी कुएं में ही पड़ेगा ? अरे हो सके तो उसको भी बचा; नहीं तो स्वयं तो मत पड़।

सम्यग्दर्शन रूपी प्राण फूंकने वाले सद्गुरु होते हैं। वे सच्चे पथप्रदर्शक हैं। किन्तु पथप्रदर्शक होने का अधिकार उन्हीं को है जो स्वयं सत्पथ पर चलते हों। शास्त्रकारों ने बतलाया है कि गुरु स्वयं धर्म के आराधक हों, निस्पृह हों, आत्मकल्याण के इच्छुक हों, धर्म के उपदेशक हों, धर्म की प्रभावना करने वाले हों, जिन-वचनों पर श्रद्धा रखने वाले हों; और जो ऐसे उपदेशक मिल जायें तो वे नर से नारायण, भक्त से भगवान्, उपासक से उपास्य बना देते हैं। ड्राइवर चाहे तो सवारियों को निर्दिष्ट स्थान पर भी पहुंचा सकता है और चाहे तो सब को रास्ते में ही खत्म भी कर सकता है।

तो वक्ता भी ड्राइवर के समान होता है। वह कल्याणपथ के यात्रियों को यथा स्थान—उनके अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंचा सकता

है ; मगर शर्त यही है कि उसका जीवन मंजा हुआ होना चाहिए। उसके जीवन में ऐसी कोई चीज नहीं होनी चाहिए कि दुनिया उसकी तरफ उंगली उठा सके।

व्याख्यानदाता की विशेषताओं में से एक विशेषता यह भी होनी चाहिए कि उसका जीवन आदर्श हो। शीशा साफ होता है तो उसमें चेहरा अच्छी तरह प्रदर्शित होता है। अगर शीशा गंदा और स्याही से भरा हुआ है तो उसमें चेहरा साफ नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त वक्ता कुलीन होना चाहिए। उसके वचन और व्यवहार में खानदानीपन हो। वह कुलहीन नहीं होना चाहिए। यहां मुझे कुलीनता के प्रश्न का स्पष्टीकरण करना पड़ेगा, क्योंकि सभी अपने को कुलवान् समझते हैं और कोई अपने को कुलहीन नहीं समझता।

सभी बहिनें अपने को पद्मिनी समझती हैं; उससे कम कोई नहीं समझती। एक वार भंगी और चमार की स्त्री में लड़ाई हो गई। होते-होते मामला बढ़ गया। लड़ाई का बढ़ना ही क्या है ? छाछ और लड़ाई बढ़ते देर नहीं लगती। एक लोटा पानी डाला कि छाछ बढ़ गई और एक गाली दी कि लड़ाई बढ़ गई। पर लड़ाई के बढ़ने में मजा नहीं है।

बहिनें जब लड़ती हैं तो मर्दों की तरह हाथापाई तो क्वचित् ही करती हैं, परन्तु 'तेरा पति मर जाये, तू रांड़ हो जाये, तू निपूती रह जाये, आदि-आदि कटुक वचनों के वाण बहुत चलाती हैं। मगर उन्हें पता नहीं कि इस प्रकार की गालियां देने से सौ जन्मों तक रंडापे का और निपूतेपन का दुःख भोगना पड़ता है ! लड़ती हैं दो स्त्रियां, मगर मारती हैं एक दूसरे के पति को और पुत्र को!

बेचारे पति और पुत्र ने उनका क्या बिगाड़ा है ? और फिर किसी के कहने से कोई मरता-जीता नहीं है; जो मरेगा अपनी आयु पूरी होने से मरेगा ! मगर याद रखना, जो क्रोध में कहती हैं कि तेरा पूत मर जाये और इस प्रकार सन्तप्त हृदय से सन्तप्त वाणी निकालती हैं, मुंह से आग बरसाती हैं और तीव्र संक्लेश से अपनी भावना को कलुषित करती हैं, दूसरों का घोर अहित सोचती हैं, उन्हें सौ जन्मों तक सन्तान की प्राप्ति नहीं होती । आज आप देखते ही हैं कि उनके घरों में डाक्टर बुलाये जाते हैं, नाना प्रकार की दवाओं का सेवन किया जाता है, फिर भी सन्तान उत्पन्न नहीं होती ! यह सब पूर्वजन्म के किसी ऐसे ही कर्म का कुफल समझना चाहिए ।

बहिनो ! इस प्रकार की मर्मभेदी गालियां देने वाली दूसरों के पुत्रों को देख-देख कर दुखी होगी, अपने को कोसेगी और धिक्कारेगी कि इसके तो चार-चार पुत्र हैं और मेरे एक भी नहीं है ! अरी पगली ! तेरे हो तो कैसे हो ! तूने तो दूसरे के निर्दोष और निरपराध पुत्र को भी मारना चाहा था ?

ये बहिनें तपस्या तो खूब करती हैं, किन्तु जब समरभूमि में उतरती हैं तो ऐसे परमाणुबम छोड़ती हैं कि सैंकड़ों कोसों तक उसकी विषैली हवा फैलती है ! बहिनो ! कदापि भूल-चूक में भी ऐसे कठोर शब्दों का प्रयोग न करना, क्योंकि अपना वचन ही अपना मित्र और शत्रु है ।

वचन वचन तो कहें, वचन के हाथ न पांव
एक वचन कारी करे, एक जो घाले घाव ॥

वचन तो सभी बोलते हैं, परन्तु एक वचन घाव को भर देता है और एक वचन भरे हुए घाव को भी खोल देता है। शब्द राम ने भी कहे थे और रावण ने भी कहे थे। रावण ने विभीषण से कहा था—

लगै राम तोहि जो प्यारा ।
क्यों नहि सरण उसी का धारा ॥

जब विभीषण ने रावण के सामने राम की प्रशंसा की और कहा कि सीता को लाकर तुमने बड़ी भूल की है ! तुम रक्षक हो कर भक्षक हो गये ? राजा भी अगर बहिन-बेटियों की आबरू लूटने लगे तो फिर रक्षा ही कौन करेगा ? मगर जो होना था सो हो गया। अब सीता को वापिस लौटा दो। वह महासती है और उसे प्रण से डिगाने वाला संसार में कोई नहीं है। सीता सती प्राणों का उत्सर्ग कर देगी, परन्तु प्रण का परित्याग न करेगी।

मगर वहां विभीषण की सुनने वाला कौन था ? जो विषयों का लोलुप बन गया था और जिसकी बुद्धि धर्मभ्रष्ट हो चुकी थी, अपने शुभचिन्तक भाई से कहने लगा—अरे चाण्डाल ! गद्दार ! विश्वासघातक ! तू मेरा भाई नहीं, शत्रु है !

सज्जनो ! जैनरामायण आपने सुनी होगी। उसमें उल्लेख आता है कि रावण के मरने की घोषणा पहले ही हो चुकी थी, फिर भी विभीषण ने उसे बचाने के बड़े-बड़े उपाय किये, युक्तियां सोचीं मगर रावण ने कह दिया—तू कुलहीन है, कुलकलंक है, जो मेरे सामने दुश्मन की तारीफ़ कर रहा है।

सज्जनो ! राम ने कौन-सा ऐसा कार्य किया था, जिससे रावण उन्हें अपना शत्रु समझता था ! राम ने उसे कोई कष्ट नहीं

पहुंचाया था । उसकी कोई प्रिय वस्तु नहीं हरण कर ली थी । अपराध तो स्वयं रावण का था । उसी ने सीता का हरण करके राम को कष्ट दिया था । मगर वह दूसरों पर दोषारोपण कर रहा है ! राम को अपना शत्रु बतलाता है ! मानो राम ने न मालूम उसका क्या नुकसान कर दिया है । संसार में ऐसी ही विपरीत प्रवृत्तियां होती रहती हैं । अपराधी अपने को निरपराध घोषित करता है और निरपराध को अपराधी बतलाता है ।

फिर भी विभीषण ने कहा—बन्धु, मेरा परामर्श तो यही है कि आप सीता को वापिस कर दीजिये । राम बड़े दयालु हैं, उदार हैं, शान्तिप्रिय हैं । वे बात आगे नहीं बढ़ायेंगे । और यदि मेरी बात नहीं मानते हो तो सीता को जलती हुई मशाल समझो ! वह सबको जला कर भस्म कर देगी । वंश में कोई नामलेवा भी शेष नहीं रहेगा ।

सज्जनो ! आज राम के वंश के तो हजारों मिल जायेंगे, परन्तु रावण के वंश का खोजने पर भी कोई नहीं मिलेगा । हाँ, यह सच है कि रावण जैसे कुमतिशील संसार में प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं । उनकी कहीं भी कमी नहीं है ।

अभिप्राय यह है कि विभीषण ने रावण के हित के लिए अनेक बातें कहीं, परन्तु रावण ने तो यही कहा कि—तू मुख से मेरा हित प्रकट करता है, परन्तु भीतर से राम से मिल गया है । तू बन्धुद्रोही है । जब विभीषण नम्रता के साथ फिर उसे समझाने लगा तो उसने कहा :—

बस-बस जबान [illegible] ा को बंद कीजिए ।
इस मामले में [illegible] न तो हर्गिज न दीजिए ॥

रावण ललकार कर कहता है—कुलकलंक ! अब तक बोला सो बोला, किन्तु अब जो बोला तो जीभ कटवा दूंगा।

सज्जनो ! विभीषण को रावण कुलद्रोही बतला रहा है ! सच है पीलिया के रोगी को प्रत्येक वस्तु पीली ही पीली नजर आती है ! यह कोई सुनी हुई बात नहीं, बल्कि अनुभव की हुई बात है। मुझे स्वयं को पीलिया हो गया था और सब चीजें पीली ही पीली दिखाई देती थीं। इतना ही नहीं, पीलिया वाले को मल, मूत्र और पसीना भी पीला ही निकलता है। तो विभीषण ने तो रावण की भलाई की ही बात कही थी। वह सत्योपासक था और नीति के पथ पर चलने वाला था। जब वह रावण की ओर से सर्वथा निराश हो गया तो सोचने लगा—गजब हो गया ! मैंने इसके लिए क्या-क्या योजनाएं बनाई थीं, किन्तु इसने सबको मिट्टी में मिला दिया। ऐसे आदमी के पास रहने से धर्म की रक्षा नहीं हो सकती, बल्कि प्राणों की भी रक्षा नहीं होगी। अतएव मुझे इससे पृथक् हो जाना चाहिए। कहा है :—

जहाँ र भाव विवेक नहीं,
ठौर को त्याग सदा ।
जिससे अपना दिल नहिं मिले,
उससे फिर बात कहां कसना ॥
बाल से रार बड़ों से विरोध,
कुलच्छिनी नार से न हंसना ॥
परसराम कहे तू सुन हो चतुर नर,
इतनी बातों से दूर सदा बसना ॥

जहां अंगूरों की लताएं काट-काट कर उनके स्थान पर आक और धतूरे लगाये जाते हों और मयूर और हंसों को मार-मार कर काक बसाये जाते हों, ऐसी जगह रहने में भलाई नहीं है। जहां प्यार नहीं, आदर नहीं, सब धान बाईस पंसेरी तुलते हों और जहां अपने विचार मेल न खाते हों, वहां मौन रहना ही श्रेयस्कर है ! ऐसी जगह को और वहां रहने वालों को दूर से ही सलाम है ! एक ग्रंथ में लिखा है–'हे मूर्खाधिराज देवता ! तुझको सौ बार, सहस्र बार और लक्ष बार नमस्कार है !' प्रश्न होता है कि नमस्कार मूर्ख को क्यों किया ? नमस्कार तो ब्रह्मचारी को, साधु को किया जाता है। किन्तु भाई, मैं तो मूर्ख को ही प्रणाम करूँगा। साधु और पण्डित को नमस्कार करूँ या न भी करूँ। इन्हें नमस्कार न किया तो कोई हानि नहीं। उन्हें तो शास्त्र के प्रमाण से भी मना सकता हूं। मगर मूर्ख के लिए कोई शास्त्र, ग्रंथ या उपदेश काम नहीं देता। अतएव उसे मनाने का साधन तो नमस्कार ही है।

आशय यह है कि जिससे अपनी तबियत न मिले उससे बात करने से बचते ही रहना चाहिए। दूसरे, बालक के साथ झगड़ा नहीं करना चाहिए और तीसरे, बड़ों के साथ विरोध नहीं करना चाहिये।

ऐ अभागिनी मछली ! जिस पानी में तू रहती है, जिसे पीती है, जिसमें जीती है और जिस पर तेरा जीवन निर्भर है, जिससे एक पल के लिए अलग हो जाये तो तुझे चील या कौवा उठा कर ले जाये, इस प्रकार जिसके आधार पर तेरे प्राण टिके हैं, उसी समुद्र से तू वैर करती है ? उसी से बिगाड़ती है और

बुरा मनाती है ? याद रख, उसका सामर्थ्य अपरिमित है, वह अपनी मर्यादा का कभी परित्याग नहीं करेगा, परन्तु तू अपना ही बिगाड़ कर लेगी। अगर समुद्र ने एक ही धक्का दे दिया तो बाहर किनारे पर जा पड़ेगी और समाप्त हो जायेगी। परन्तु सागर में गम्भीरता है। उसमें दुर्जनता नहीं है कि तुझे किसी प्रकार हानि पहुंचावे। वह चाहता तो तुझे कभी का ठिकाने लगा देता। ओ मच्छी! तेरे लिए यही हितकर है कि तू जिसके सहारे जीवित है, उसकी खैर मना और उसकी शुभ-चिन्तक हो कर रह।

इसी प्रकार हे मनुष्य! तू जिस समाज में रहता है और जिस देश में रहता है, उसका होकर रह, उसका शुभ-चिन्तक बनकर रह; उसका भला चाह और भला कर और उसके उत्थान में अपना उत्थान मान; यह बात तू पक्की समझ ले कि तू उस समाज और देश का एक अंग है और इस कारण यदि देश या समाज को कोई क्षति पहुंचती है तो वह तेरी ही क्षति है। देश या समाज को हानि पहुंचा कर तू कदापि लाभान्वित नहीं हो सकता!

इसी प्रकार संघ की उन्नति में व्यक्ति की उन्नति है। संघ सबल होता है तो उसके अंगभूत व्यक्ति भी बलवान् होते हैं और यदि संघ निर्बल और अशक्त होता है तो उसके अंगभूत व्यक्ति भी निर्बल और शक्तिहीन समझे जाते हैं। किसी ने कहा है:—

संघे शक्तिः कलौ युगे।

यों तो प्रत्येक काल में संघ में ही शक्ति का निवास होता है, मगर कलिकाल में तो खास तौर से संघ ही बल का केन्द्र होता है। ऐसा न होता तो तीर्थंकर भगवान् संघ की स्थापना ही

क्यों करते ? वास्तव में संघ के बिना धर्म टिक नहीं सकता। मगर धर्म की स्थिति उसी संघ के सहारे हो सकती है, जो पूरी तरह संगठित हो और जिसमें सुदृढ़ एकता हो। वस्तुतः वही संघ कहलाता है। संगठन और एकता के अभाव में संघ नाम मात्र का ही होता है और वह धर्म को ठीक तरह कायम नहीं रख सकता। इसी दृष्टिकोण से हमारा श्रमणसंघ बना है। मगर कितने ही संघद्रोही यही योजनायें बनाते प्रतीत होते हैं कि किस प्रकार यह संघ भंग हो जाये और बना-बनाया संगठन छिन्न-भिन्न हो जाये ! बिल्ली यही चाहती है कि कब छींका टूटे और कब मैं दूध-मलाई उड़ाऊँ ! मगर अरे संघश्रेय के द्रोही ! पहले तो यह संगठन रूपी छींका टूटने वाला ही नहीं है। कदाचित् टूटा तो तेरे सिर पर ऐसा पड़ेगा कि तेरे सिर की खोपड़ी ही फूट जायेगी और उसमें कीड़े बिलबिलाने लगेंगे।

सज्जनो ! किसी के चाहने मात्र से छींका नहीं टूटने वाला है। उसकी सांकलें मजबूत लोहे की बनी हैं। जब सांकलें कमजोर हो जायेंगी तो वह आप ही आप पड़ जायेगा। भले आदमी ! तू क्यों तोड़ना चाहता है ? भगवान् ने कहा है—जो चतुर्विध संघ की रस्सी को काटता है—संघ के संगठन में बाधा डालता है, संघ में फूट पैदा करता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है। उसे सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम तक धर्मबोध मिलना कठिन हो जायेगा।

आज बहुत-से लोग हैं जो इधर तो गुरु भक्ति का दावा करते हैं और उधर गुरु की आज्ञा का निरादर भी करते हैं। वे अपने इन कारनामों से गुरु की शान नहीं बढ़ा रहे हैं। उलटे उनकी शान घटा रहे हैं। वे गुरु भी, अगर सच्चे गुरु हैं तो, अपने

साथियों का अपमान देख कर कभी प्रसन्न न होंगे। और यदि वे अपने अभिमान में हैं तो चीज ही दूसरी है। मगर याद रखिये, गुरु को खुश करने का यह तरीका नहीं है। अगर तू किसी के गुरु का अपमान करेगा तो तेरे गुरु का कोई भी अपमान कर सकता है। अतएव दूसरे के पिता की इज्जत घटाना अपने पिता की इज्जत घटाने का आह्वान करना है। अतएव इज्जत दो और इज्जत लो। अपमान दो और अपमान लो !

गुरु का अपमान करना अपने लिए ही कब्र खोदना है और अपने आपको उसमें डालना है। अगर तू किसी के पिता का छटांक भर मान करेगा तो वह तेरे पिता का पाव भर मान करेगा। इस से विपरीत रास्ता पकड़ोगे तो स्वयं ही को दुःख उठाना पड़ेगा। अतएव मैं बतला रहा था कि जहां अपना मिज़ाज न मिले और बातचीत करने से हानि होती हो, वहां मत फटको। उस स्थान से दूर रहो। पहाड़ को फोड़ना चाहोगे तो तुम्हारा ही सिर फूटेगा। यदि तू शेर के दांत गिनने चलेगा तो तेरे ही दांत गिन लिये जायेंगे। अग्नि को पैरों से रौंदने का दुस्साहस करेगा तो तेरे ही पैर दग्ध हो जायेंगे। अग्नि पर पैर रख कर जल मरने वाला तो एक ही जन्म में मरेगा, मगर संघ का विनाश जन्म-जन्मान्तर में रुलायेगा।

और पूर्वोक्त पद्य में कहा गया है कि जो स्त्री कुलक्षणा है, चंचला है, उससे बचकर रहना चाहिए। संगति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। भले कोई मद्य न पीता हो किन्तु यदि वह पीने वालों के साथ बैठेगा तो उसे भी लोग पियक्कड़ ही समझ लेंगे। चिलम पीने वालों के समीप बैठने वाले के भी कपड़े जल जाते हैं। कहावत है :—

'चिलम चंडी न रही सोहागिन और न रही रंडी ।'

जब चिलम भरी जाती है और पीने वाले धक्-धक् करते हुए उसे पीते हैं, तो उसमें से चिनगारियां उछलती हैं । वे कपड़े में दाग लगा देती हैं और कपड़े में बैठने वाले बेदाग हो कर भी बिना दाग के नहीं रह सकते ।

पर ये काले-काले दाग तो धुल भी सकते हैं, मगर निन्दा के दाग धुलने कठिन हैं । अतएव पुण्य के योग से तुम्हें जो जिह्वा मिली है, उससे पाप का उपार्जन मत करो । किसी को निन्दा न करो । तुम्हारी जीभ हितकर, मधुर और पथ्य वचन बोलने के लिए है । बोलो तो ऐसा बोलो जिससे दूसरों को शान्ति मिले, सुख प्राप्त हो । ऐसा करने से ही तुम्हें भी सुख मिलेगा और तुम्हारा पुण्य पाप के रूप में परिणत नहीं होगा ।

तो मैं कह रहा था कि वचन रावण ने भी कहे थे और राम ने भी कहे थे । मगर रावण के वचनों से उसका सगा भाई विभीषण उससे अलग हो गया और केवल भाई ही जुदा नहीं हुआ, मगर उसका जीवन और सर्वस्व भी उससे किनारा काट गया । परिणाम यह हुआ कि रावण को बुरी मौत मरना पड़ा और नरक में जाना पड़ा । आज तक भी लोग उसका पुतला बना कर जलाते हैं । छोटे-छोटे बालक भी उसे मारने जाते हैं, जिन्हें लंगोटी बांधना तक नहीं आता और जिनको नाक में से सेंड फुर्र-फुर्र करता है । ऐसे बच्चे भी तीर-कमान ले कर चलते हैं रावण को मारने ।

पापकर्म करने वाले तो जिन्दा भी मरे के समान हैं । जिसके अन्तःकरण में किसी भी वस्तु का अतिलोभ व्याप्त हो जाता है, वह किसी काम का नहीं रहता । लोभ सब सद्गुणों का नाश करने वाला है—

लोहो सव्वविणासणो ।

और दुर्गुणों की आवश्यकता नहीं । अगर सब दुर्गुणों का बाप लोभ विद्यमान है तो वही बस है । वह अकेला ही मनुष्य का सर्वनाश करने में समर्थ है ।

और जिसको पराई निन्दा और चुगली करने की आदत पड़ गई है, उसे अन्य पातक करने की आवश्यकता नहीं । उसके लिए यह एक ही पातक पर्याप्त है । इसी से उसका जीवन नष्ट हो जायेगा और वह जीते जी दुनिया की घृणा का पात्र बन जायेगा ।

जिसका मन पवित्र है, स्वच्छ है और निर्मल है, जिसके हृदय रूपी पद्महृद् से करुणा की शीतल मन्दाकिनि प्रवाहित हो रही है, जिसका मन प्रगाढ़ धर्मश्रद्धा से युक्त है, समझ लो कि गंगाजी, जमनाजी, केदारनाथ, पुष्कर आदि-आदि तीर्थों की यात्रा करने या वहां जाकर जलस्नान करने की उसे कोई आवश्यकता नहीं है ; क्योंकि उसका अन्तःकरण पवित्र है—

मन चंगा तो कठौती में गंगा ।

मन दया, क्षमा के विमल सलिल से परिपूर्ण हो तो जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जायेंगे । अगर मन अपावन है और उसमें पाप की गंदगी समाई हुई है तो हजार बार तीर्थस्नान करने पर भी काम बनने वाला नहीं है । अतएव सर्वप्रथम मन को शुद्ध करने का प्रयत्न करो । शुद्धहृदय व्यक्ति को किसी भी अन्य तीर्थ में भटकने की आवश्यकता नहीं है । तीर्थों में वही भटकता है जिसमें अपनी आत्मा पर विश्वास नहीं है ।

भद्र पुरुषो ! शास्त्रकारों का कथन है कि जो शुद्ध मन के सरोवर में स्नान करते हैं, उन्हें दूसरे सरोवर में स्नान करने की

आवश्यकता नहीं रहती। उसमें स्वतः पवित्रता का वास हो जाता है और अनेक सद्गुण आ जाते हैं। जैसे सभी नदियां समुद्र में अपने आप आ मिलती हैं और वृक्ष पर लताएं स्वयं लिपट जाती हैं, उसी प्रकार पावनमना मनुष्य स्वतः धर्म का केन्द्र बन जाता है।

जिसके पास सच्चा ज्ञान है, उसको अन्य धन की आवश्यकता ही क्या है? ज्ञान-धन ऐसा धन है कि उसे चोर नहीं चुरा सकता, भागीदार हिस्सा नहीं बंटा सकता और लुटेरा लूट नहीं सकता। अधर्मी, अन्यायी मनुष्य यह लोक और परलोक दोनों ही विगाड़ लेता है।

कोई-कोई व्यक्ति तो ऐसे होते हैं कि अशुभ नाम कर्मोदय से उनका अपयश फैला रहता है, बदनामी होती है, प्रातःकाल कोई उनका नाम लेना भी पंसद नहीं करता और कोई कदाचित् नाम ले लेता है तो लोग कहते हैं—अरे राम, राम! सवेरे ही सवेरे किस मनहूस का नाम ले लिया? ऐसा क्यों होता है? कारण यही कि उसने अशुभ नामकर्म का बंध किया है।

किसी जगह एक बड़ा सेठ रहता था। खूब मालदार था। राजा भी उससे कर्ज लिया करता था। उसके परिवार में लगभग १५-२० बाल-बच्चे थे। इतना बड़ा परिवार और इतना बहुत धन होने पर भी उसका हाल यह था कि वह बाजार में शाक-भाजी लेने जाता तो सवेरे-सवेरे कूंजड़ा भी कह देता—सेठजी, अभी बोनी नहीं हुई है! जब वह आगे बढ़ जाता तो कूंजड़ा कहता—न जाने कहां से आज सुबह-सुबह यह मंगलमूर्त्ति आ धमका! आज बिक्री होना ही कठिन है।

सज्जनो! यह अशुभ नामकर्म का फल है। जिस मनुष्य को लोग घृणा से देखते हैं और जिसकी निन्दा करते हैं और वह

समझता है कि मैं जीवित हूँ ! मगर नहीं, वह तो कभी का मर चुका है ! उसके यशरूप वास्तविक प्राण तो कभी के निकल चुके हैं। वह केवल हाड़-मांस और चमड़े से जी रहा है । यश-सम्पन्न होना ही जीना है और अपयश से जीना ही मरना है । जिसे सच्चा जीवन जीना है, उसे यशपूर्वक ही जीना चाहिए । अपयश से जीना, जीना नहीं है। यशस्वी मनुष्य कदाचित् अपना अपयश सुन लेते हैं तो घुल-घुल कर अंदर ही अंदर मरते रहते हैं। वे दूसरों के सामने मुंह भी नहीं दिखलाना चाहते ! किन्तु जो वेशर्म और वेहया होते हैं, वे शान के साथ वाजार में घूमते-फिरते हैं। वे नहीं समझते कि उनके प्राण तो कभी के खत्म हो चुके हैं। सज्जनो ! समय की वात है। देखो, रावण का सर्वस्व समाप्त हो गया, क्योंकि उसने अपने हितैषी भाई के वचन नहीं माने ।

हां, तो उस भंगिन और चमारिन में लड़ाई हुई। भंगी की लड़की चमारिन से कहने लगी—तू मुझे क्या समझती है ! यदि मैंने तेरा ऐसा-वैसा नहीं कर दिया तो मुझे भंगी की वेटी मत समझना, किसी चमार की वेटी समझना ।

इस प्रकार भंगिन भी अपने को चमारिन से ऊंचा समझती है ! जब कि चमार चमड़ी का काम करता है, मगर भंगी तो विष्ठा उठाता है ?

सज्जनो ! मुझे इतनी लम्वी चौड़ी यह भूमिका किसलिए वांधनी पड़ी ? इसलिए कि वक्ता कुलवान् होना चाहिए। पर कुलवान् किसे कहते हैं ? जो ऊंचे वंगले वाला, परिवार वाला, लखपति या करोड़-पति घर का हो, वह कुलवान् समझा जाये ? नहीं। कुलवान् तो झोंपड़ी वाला भी हो सकता है और वंगले वाला भी हो सकता है। ऊंची आन और शान वाले और मान वाले भी कुलवान् हो सकते हैं, जिनके

कुल में कभी कोई कुकृत्य नहीं हुआ है, जिन्होंने हक का ही खाया है और हक से ही कमाया है। ऐसे ऊंचे मकान वाले कुलवान् हो सकते हैं। मगर कोई मोटर से, धन से या विशाल बंगले से ही कुलवान् नहीं हो जाता। ऊंचा ओहदा पा लेने मात्र से भी कोई कुलीनता नहीं प्राप्त कर लेता। कुलीनता न स्वर्ण के सिंहासन में हैं, न कुर्सियों में है और न धन की थैलियों में ही समाई हुई है। सच्ची कुलीनता सदाचरण पर निर्भर है। सिद्धान्त यह है कि जिसके कुल में कोई कलंक नहीं, दाग नहीं लगा हो, कोई निन्दनीय कार्य न किया गया हो, जिस कुल वालों ने भूखे, प्यासे रह कर भी कुल में दाग न लगाया हो, वह वास्तव में कुलीन कहा जा सकता है। इसके विपरीत, जिसने ऊंचा मकान और विपुल धन पाकर भी वेश्यागमन किया, मदिरा-पान किया और दूसरे निन्दनोय कृत्य किये, वह कुलहीन है। अतएव टूटी-फूटी झोंपड़ी में रहने वाला भी अगर बुरे कृत्य त्याग कर शुद्ध मार्ग पर आ जाता है और नीति-धर्म के साथ अपना जीवनयापन करता है, तो वह कुलवान् है। मगर आज तो कुलवान् की परिभाषा ही कुछ और हो गई है। आज ऊंचे-ऊंचे बंगले वाले अपने को कुलवान् और दूसरे को कुलहीन समझते हैं। यह मनुष्य का भ्रम है।

मेवाड़ की बात है। हमें भिंडर नगर से कुंथवास नामक ग्राम में जाना था, किन्तु रास्ता भूल गये और दूसरी तरफ निकल पड़े। वहां हमें सामने आता एक आदमी दिखाई दिया। वह जाति का भील था। उसने अपनी वोली में, हमसे कहा—बाबजी ! आपने कठे जाणो है ? हमने कहा—भाई, कुंथवास जाना है। तब उसने बतलाया—वहां का रास्ता तो बहुत पीछे रह गया और यह कह

कर वह हमारे साथ हो गया। बड़े ही प्रेम से वह हमें रास्ता दिखलाने के लिए साथ चला। रास्ते में उसने हमें अपनी मेवाड़ी बोली में बतलाया—बावजी ! मैंने चौथमलजी बावजी रो वकाया हुणयो (व्याख्यान सुना) अने उणानी पासे थी दारू-मांसरो त्याग-करयो। नोकार मंत्र हीख्यो (नमस्कारमंत्र सीखा)।

यह सुनकर मेरी आत्मा बोल उठी—वाह रे दिवाकर ! मेरी आवाज़ राजमहलों में भी गूंजी और भीलों की झोंपड़ियों में भी गूंजो ! सज्जनो ! यह है जिंदगी !

जो गुरु के चरणों में आ गया और जिसने पंच परमेष्ठी का शरण ले लिया, उसे भी यदि तुम् नीच कहते हो और ऊंचे घर में रहने वाले को, जो अंडे खाता है, वेश्या के घर जाता है और अनेक प्रकार के नीच कृत्य करता है, बलवान् कहते हो ! नहीं, नहीं ; वह तो अधम ही है। इस प्रकार की कुलीन और अकुलीन की मनःकल्पित भ्रान्त परिभाषाओं से सदाचार का मूल्य नष्ट होता है। सदाचार के लिए कोई ऊंचा स्थान नहीं रह जाता। वस्तुतः उच्चता और नीचता की अभ्रान्त कसौटी सदाचार और दुराचार है। इसके सिवाय और कोई सही कसौटी नहीं हो सकती। चाहे कोई ब्राह्मणी के उदर से जन्मा हो अथवा चाण्डाली के उदर से, मगर उसने अपने जीवन को संस्कारयुक्त बनाया है, उच्च आचार-विचार को अंगीकार किया है, तो वह उच्च है ; अन्यथा नीच है। इस प्रकार उच्चता और नीचता किसी जाति में सीमित नहीं है, प्रतिष्ठा पर निर्भर होती है ; वह तो उच्चकोटि के चरित्र में ही निहित है।

सज्जनो ! यह शास्त्रकारों की घोषणा है। यह जाति-पांति से ऊंचे उठे हुए की आवाज है कि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल

तक, प्रत्येक जाति में उच्च भी होते हैं और नीच भी होते हैं। जिसका आचरण ऊंचा वही ऊंचा और जिसका आचरण नीचा वही नीचा है।

वास्तव में चाण्डाल कौन है ? जो क्रोधी है, द्वेषी है, जिसमें सत्य नहीं, इन्द्रियदमन नहीं, अनुकम्पा नहीं, वह चाण्डाल है।

वास्तव में ब्राह्मण कौन है ? जो दूसरे प्राणियों को अपने ही समान समझता है, सत्यपरायण है, इन्द्रियों का दमन करता है, यथाशक्ति एक देश या सर्वदेश ब्रह्मचर्य का पालन करता है और इस प्रकार श्रेष्ठ आचरण करता है, वह ब्राह्मण है।

भद्र पुरुषो ! सभी जातियों में अच्छे और बुरे होते हैं। ऊंचे कुल में पैदा होने वाले भी जो अच्छे-अच्छे काम नहीं कर सकते, वे नीच समझे जाने वाले कुल में उत्पन्न होकर भी कर लेते हैं।

मैं आपको पंजाब प्रान्त की एक रियासत फरीदकोट की बात बतलाता हूं। मुझे वहां के दो भाइयों ने वह बात सुनाई थी, उन्होंने कहा—महाराज ! गुणों के विना जाति का कोई मूल्य नहीं उठता है। और फिर वे बोले—

फरीदकोट में एक बार दुर्भाग्य से दुष्काल पड़ गया। अन्न की उपज नहीं हुई और घास भी बहुत कम हुआ। मनुष्यों और पशुओं को जिंदगी बसर करना मुश्किल हो गया। अति गर्मी पड़ने लगी और रेत भी बहुत गर्म होने लगी। यह हाल देख कर वहां के मुखिया-मुखिया लोग इकट्ठे होकर राजा के पास गये। वहाँ का राजा सिक्ख था और उसका नाम पहाड़सिंह था। राजा ने पूछा—आज आप लोगों का आना किसलिए हुआ ?

उनमें से एक ने कहा—'महाराज, आप हमारे राजा हैं, नृपाल हैं; हमारी रक्षा करने वाले हैं और हम सब तरह से लाचार होकर आपकी शरण में आये हैं । दुर्भिक्ष पड़ने के कारण बाल-बच्चे और स्त्रीजन तड़प-तड़प कर मर रहे हैं ।

राजा ने प्रजा का दुःख समझकर अपने गोदामों में से बहुत-सा अनाज दे दिया । मगर ओस से तालाब नहीं भरता । वह तो वर्षा होने पर ही भरता है । आखिर तो प्रकृति की अनुकुलता हुए बिना काम नहीं चलता ।

सज्जनो ! पूर्व काल के राजाओं को अपनी प्रजा से बड़ा प्रेम होता था । वे प्रजा के प्रति अत्यन्त सहानुभूतिशील होते थे और प्रजा के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानते थे । राजाओं की इस उदारता के कारण ही भारतवर्ष में बहुत लम्बे समय तक राजतंत्र सकुशल चलता रहा । राजा और प्रजा के बीच कोई उल्लेखनीय संघर्ष हुआ, इसका प्रमाण नहीं मिलता । मगर काल का प्रभाव पड़ा । राजा स्वार्थपरायण, विलासी और लापरवाह हो गये । प्रजा के प्रति वह प्रीति भाव उनके चित्त में नहीं रहा । प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता उन्हें न रही । परिणामस्वरूप प्रजा में सार्वजनिक असन्तोष फैला और बढ़ते-बढ़ते उसने वर्गसंगर्ष का रूप धारण कर लिया । अन्त में राजतन्त्र को समाप्त होना पड़ा और आज न केवल भारत में ही, वरन् संसार के प्रायः सभी देशों में से वह उठ गया है । शासन की अनेक नूतन प्रणालियां जन्मी हैं । इनका भविष्य क्या होगा, कौन कह सकता है ? पर राजतंत्र तो गया सो गया ही !

हां, तो फरीदकोट की जनता का कष्ट जब दूर न हुआ तो मुखिया लोग फिर राजा के पास पहुंचे । उन्होंने अत्यन्त भावमय

शब्दों में राजा से अभ्यर्थना की—आप हमारे देवता हैं, हमारे पूज्य हैं, प्रजापालक हैं, हम आपका कीर्तन करते हैं और आपके प्रति सम्पूर्ण विश्वास रखते हैं । हम आपकी आज्ञा का बराबर पालन करते आये हैं । आप पर अनन्य श्रद्धा रखते आ रहे हैं । आज हमें इस देव के द्वारा वरदान मिलना चाहिए ।

राजा यह सुनकर गंभीर हो गया । उसने कहा—क्या समस्या लेकर आये हो ?

सबने कहा—आप ऐसी कृपा करो कि वर्षा हो जाये । आप देव हैं, आपमें शक्ति है और आप ही सब की इच्छा पूरी कर सकते हैं ।

राजा ने कहा—अच्छा, कोई बात नहीं । आप निश्चिन्त हो कर घर जाइये । मैं वही काम करूंगा कि वर्षा हो जाये और आपका सन्ताप मिट जाये ।

राजा सोच-विचार में पड़ गया कि वर्षा कैसे की जाये ? आखिर सोचते-सोचते उसने एक योजना बनाई । एक दिन नियत करके उसने नगर में घोषणा करवा दी कि—आज नगर के बाहर 'गोहारोली' खेली जायेगी । गोहा कहते हैं गोबर को और रोली कहते हैं शोर मचाने को । अर्थात् प्रजा के ऊपर में गोबर फेंकूंगा और प्रजा मेरे ऊपर गोबर फेंकेगी ।

नगर-निवासी सब स्त्री-पुरुष नगर के बाहर एकत्रित हो गये तो राजा भी ठीक समय पर राजसी पोशाक सजाकर मैदान में जा पहुंचा । जब गोहारोली खेलने का ठीक समय हो गया तो महाराज पहाड़सिंह ने सबके सामने एक शर्त रक्खी । कहा—जो जती-सती हो, वही मेरे ऊपर गोबर फेंके । अर्थात् जिस पुरुष ने पराई

वहु-वेटी को सदैव माता-बहिन के समान समझा हो और जिस स्त्री ने परपुरुष को पिता, पुत्र और भाई के समान माना हो, वही मेरे साथ गोहारोली खेले। राजा पर गोबर फेंकना कोई साधारण बात नहीं है। अगर जती-सती फेंकेगा तो वर्षा होगी और जो यों ही किसी ने फेंक दिया तो उसके शरीर में कोढ़ हो जायेगा।

सज्जनो ! जव यह शर्त्त पेश की गई तो सन्नाटा छा गया। सव अपनी-अपनी करतूतों को अपने-अपने मन में तो जानते ही थे। अन्दर में कोई लूला, कोई लंगड़ा और कोई अंधा था। सब को अपनी-अपनी गलतियाँ मालूम थीं। वड़े-बड़े सेठ-साहूकार खड़े थे और वड़ी-वड़ी सेठानियां गोवर फेंकने को उद्यत थीं, मगर यह शर्त्त सुनी तो सव के हौंसले पस्त हो गये।

यह हाल देख कर राजा ने कहा—क्यों, क्या हुआ ? वात क्या है ? तुम तो सभी गोवर फेंकने को तैयार थे न ? अव कोई भी क्यों नहीं फेंकता ?

उस भीड़ में एक मेहतरानी भी थी, जो जरा दूरी पर एक ओर खड़ी की। पहले-पहले तो सामने आने का साहस उसे नहीं हुआ था, मगर राजा के शब्दों में उसे चुनौती का आभास हुआ और हिम्मत करके वह सामने आ धमकी। उसने राजा से कहा —आज मेरा और आपका मुकाविला है। मैं आपके ऊपर गोवर फेंकूंगी और इस दुष्काल को काला मुंह करके निकाल दूंगी।

राजा भंगिन की वात सुनकर प्रसन्न हुआ। राजा ने उस के ऊपर गोबर फेंका और भंगिन ने राजा पर फेंका।

सज्जनो ! वहां ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं था। यद्यपि गोबर में कोई पानी नहीं था कि बरस पड़ता किन्तु वह तो एक

कसौटी थी। उस कसौटी पर भंगिन सौ टंच का सोना साबित हुई। वह सती थी और पतिव्रता थी। उस सती को अपने सत्य पर पूर्ण विश्वास था।

मेरी बहिनो! ऊंचे घरानों की देवियो! आज उस भंगिन से तुम्हें शिक्षा लेनी चाहिए और राजा-रानियों को भी पाठ सीखना चाहिए।

विस्मय की बात है कि ज्यों ही भंगिन ने राजा पर गोबर फेंका कि उसी समय आकाश में एक छोटी-सी बदली उठी। थोड़ी-सी देर में घनघोर घटा छा गई। नभमण्डल सघन मेघों से मंडित हो गया और बिजली कड़कड़ाने लगी। वर्षा हो गई। वर्षा होने से दुष्काल दूर हो गया और राज्य में शान्ति का प्रचार हो गया।

यह सब कैसे हुआ? स्थूल जगत् को ही सम्पूर्ण सत्य समझने वालों की समझ में यह बात आये अथवा नहीं आये; मगर जो लोग जानते हैं कि इस स्थूल जगत् के अतिरिक्त एक सूक्ष्म होने के ही कारण उसमें अपरिमित शक्ति है, उन्हें इसमें असंभव जैसी बात नजर नहीं आयेगी। वस्तुतः शीलरक्षक देवता इस प्रकार से शील की महिमा का विस्तार करते हैं। किसी ने कहा भी है :—

शीलवानों के चरणकमलों में देवी देवता।
स्वर्ग से आते यहां, मस्तक झुकाने के लिए।
शील को पालो जरा मुक्ति में जाने के लिए।
कर्म के बंधन कटा आनंद पाने के लिए॥

सज्जनो! ज्यों ही उस सती मेहतरानी ने राजा पर गोबर फेंका, उसी समय समझो देवता ने अनुग्रह करके, सती के सतीत्व

की प्रशंसा और महिमा के लिए वर्षा कर दी । यही जीवन की उत्क्रान्ति है ।

श्रीमद्भगवतीसूत्र में उल्लेख है कि देवता की शक्ति अचिन्तनीय होती है । वह जो चाहे सो कर सकता है । वह वर्षा कर सकता है, धूल बरसा सकता है और बनी-बनाई घटा को भी विघटित कर सकता है और दूसरी जगह ले जाकर बरसा सकता है ।

सब सेठ-सेठानियां और रईस लोग देखते रह गये और भंगिन बाजी मार ले गई । अब मैं पूछता हूं कि आप उस भंगिन को कुलीन कहेंगे या कुलहीन ?

तो मैं कहा रहा था कि वक्ता कुलवान् होना चाहिए । कुलवान् वक्ता का सबपर प्रभाव पड़ता है । अतएव व्याख्यानदाता में यह विशेषता होनी चाहिए ।

सज्जनो ! जैसे हृदय के बिना शरीर का मूल्य नहीं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना जप-तप आदि का मूल्य नहीं । अतएव सम्यक्त्व धारण करो और संसार-सागर पार करो । एवमस्तु ।

ब्यावर
२६-८-५६

: १० :

यथा कर्म तथा गति

वीरः सुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो !

चौबीसवें तीर्थंकर विश्वहितंकर भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी परमपावनी, सुधास्राविणी, कल्याणी वाणी से जगत् के प्राणियों को उद्‌बोधन देते हुए फरमाया है—ऐ भव्य जीवो ! उच्च गति में जाना, नीच गति में जाना और समस्त गतियों का अन्त करके अजर—अमर ज्योतिर्मय पद को प्राप्त करना तुम्हारे ही अख्तियार की बात है। तुम्हारा मंगल और अमंगल तुम्हारी ही मुट्ठी में है। तुम जैसे कर्म करोगे, वैसी ही गति में चले जाओगे। ज्ञानियों ने यह मार्गप्रदर्शन भी कर दिया है कि यदि तुम नीच गति में जाने योग्य खोटे कर्म करोगे तो नीच गति में जाओगे।

सज्जनो ! कर्मबन्ध दो प्रकार का होता है—निकाचित और निधत्त। और यह बंध तब होता है, जब दो चीजें होती हैं—एक बांधने वाली और दूसरी बंधने वाली चीज़। जब कर्मबंध का प्रश्न है तो बांधने वाला आत्मा है और वह बंधने वाले कर्म हैं। मगर बंधने वाले कर्म ही आत्मा को बांध-जकड़ लेते हैं। लकड़ियों के गट्ठे को रस्सी जकड़ लेती है। अपराधी को रस्सी या हथकड़ियाँ जकड़ लेती हैं। पशु को भी बाँध दिया जाता है। तो जो स्वतंत्रता का अपहरण करता है, वही बन्धन है। स्वतंत्रता को छीनने वाले साधनों को ही बन्धन माना गया है। पक्षी पिंजरे में बंद है। वह बाहर निकलना चाहता है—स्वाधीनता चाहता है, किन्तु बंधन में डाल दिया गया है, अतएव परतंत्र हो गया है। और शेर भी, जो लोहे के सींखचों में बंद कर दिया जाता है, आज़ाद होने के लिए बहुत छटपटाता है, किन्तु उसका जोर नहीं चलता। उसे विवशतावश परतंत्रता भोगनी पड़ती है।

इस प्रकार जो लौकिक बन्धन हैं, वे भी स्वतंत्रता को छीन लेते हैं और जीवों को पराधीन कर देते हैं, तो कर्म रूप भाव बंधन तो कितने जबर्दस्त होंगे, यह सहज ही समझा जा सकता है। द्रव्यबंधन तो ऊपर से ही शरीर को जकड़ते हैं, किन्तु भावबन्धन आत्मा में प्रवेश करके आत्मा को ही बांध देते हैं। कर्म रूप भाव-बन्धन भी निकाचित और निधत्त के भेद से दो प्रकार के हैं।

निधत्त बंधन जप, तप आदि क्रियाओं द्वारा टूट जाते हैं। उदाहरणार्थ—एक रस्सी ऐसी होती है कि जिससे पशु बांध दिया जाता है किन्तु पशु जब इधर-उधर मुड़ता है तो वह टूट जाती है। और एक पिंजरा इतना कमज़ोर होता है कि जरा-सा ज़ोर लगाने

से ही टूट जाता है और पशु या पक्षी निकल कर भाग जाता है । मगर कोई-कोई रस्सी या पिंजरा रूप बन्धन ऐसा भी होता है कि उसे जब निकालो तभी निकलता है और जितने समय के बाद निकालो तभी निकलता है। शेर को ऐसे मजबूत पिंजरे में बंद किया जाता है कि वह उसमें नाचता, कूदता और फिरता तो रहता है, किन्तु निकाले बिना निकल नहीं सकता।

सज्जनो ! जब सिंह सरीखा बलिष्ठ प्राणी भी परतंत्र होकर बन्धन में आ जाता है, तो संसार के अन्य सामान्य प्राणियों का तो कहना ही क्या है !

कहने का आशय यह है कि जब बड़े-बड़े तीर्थंकर, वासुदेव वगैरह भी भावबन्धन में बंध जाने से अछूते न रह सके और उन्हें भी एक नियत अवधि तक बंधन में रहना पड़ा तो संसार के पामर प्राणियों का क्या कहना है ! मगर निधत्त कर्म को उद्योग या परिश्रम करने से तोड़ा जा सकता है। वह बंधन नियत समय से पहले भी टूट जाता है और उससे स्वतंत्रता मिल जाती है, किन्तु निकाचित कर्म के संबंध में यह बात नहीं है । निकाचित कर्म का वन्ध यदि हो जाता है, तो उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। ऐसे ही कर्मों के विषय में शास्त्र में कहा गया है:—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—निकाचित रूप में बाँधे हुए कर्मों को भोगना ही पड़ता है, विना भोगे वे नहीं छूटते।

कर्म का भोग भी दो प्रकार से होता है—प्रदेश रूप से और विपाक रूप से। जहाँ विपाक रूप से भोगना होता है, वहाँ प्रदेश

रूप से अवश्य भोगना पड़ता है। मगर यह नियम नहीं कि जहां प्रदेश रूप से उदय हो वहाँ विपाक रूप से भी उदय हो।

जब योगों में बहुत ही मलीनता और कलुषता होती है तथा निकृष्टता आ जाती है और जब कषाय में तीव्रता होती है, तब निकाचित बन्ध होता है। सज्जनो ! जितना-जितना भावों में स्नेह का पुट होता है, उतना ही उतना कर्मों का बंध ज्यादा होता है। इसके विपरीत भावों में जितनी-जितनी रूक्षता होती है, उदासीनता होती है, कर्म भी उतने ही उतने हल्के बंधते हैं।

श्रीमद्उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन में एक कथा आई है। जयघोष और विजयघोष नामक दो ब्राह्मण पुत्र थे। उनमें से विजयघोष को यज्ञ आदि ब्राह्मण-क्रियाओं में अधिक निष्ठा थी। माता-पिता से भी उसे यज्ञ आदि क्रियाओं की ही शिक्षा मिली थी और वही संस्कार उसके अन्तःकरण में जमे हुए थे। यह स्वाभाविक है कि मनुष्य जैसी संगति में रहता है और जिस वातावरण में सांस लेता है, वैसा ही उसपर प्रभाव पड़ जाता है। अच्छी संगति का अच्छा और बुरी संगति का बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता।

विजयघोष का बड़ा भाई जयघोष इन क्रियाओं को दोष का कारण समझ कर और विरक्त होकर साधु बन गया था। देश-देशान्तर में विचरण करते-करते एक बार जयघोष मुनि अपनी जन्मभूमि में आ पहुंचे। जब वह वहां पहुंचे तो विजयघोष एक बड़े यज्ञ की तैयारी कर रहा था। यज्ञ के निमित्त बड़े-बड़े धुरन्धर वेदपाठी विद्वान् पण्डित आमंत्रित किये गये थे। यज्ञ की वेदिका के समीप हवन की समग्र सामग्री सजी हुई थी। पण्डितगण यथास्थान

बैठ कर वेदमंत्रों का उच्चारण कर रहे थे। उन पण्डितों के लिए विविध प्रकार के भोजन और व्यंजनादि बनाये गये थे।

उसी समय जयघोष मुनि घूमते-घूमते यज्ञशाला में आये। आज उनकी एक मास की तपस्या का पारण दिवस था। आखिर तो शरीर को भाड़ा देना ही पड़ता है। जो शरीर के प्रति सर्वथा ममत्वहीन हैं, परमयोगी हैं, विरक्त हैं, उनका शरीर भी भोजन के बिना काम नहीं देता। जिस शरीर से आत्मिक साधना करनी है, उसे बनाये रखने के लिए आहार करना ही पड़ता है। शास्त्र में बतलाया गया है कि उत्कृष्ट तपस्या एक वर्ष की हो सकती है। इससे अधिक का वर्णन नहीं मिलता।

हां, तो जब जयघोष मुनिराज यज्ञशाला में पहुंचे तो सबने समझा कि ये भोजन के लिए आये हैं। अतएव याजक ने कहा—भिक्षु ! यह भोजन तो उनके लिए है, जो वेदपाठी हैं और दूसरों को संसार से पार करने वाले हैं।

सज्जनो ! खेद है कि आज दुनिया दूसरी ही हो रही है। जो छोकरा-छोकरी उत्पन्न करते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, घर-गृहस्थी में रहते हैं, उनको भी लोग 'तिन्नाणं तारयाणं' कह कर पूजते हैं ! अगर इस प्रकार गृहस्थ को ही गुरु माना जाये तो फिर तप-त्याग वालों को दुनिया कहां टिकेगी।

बज्र ` । सारका बीच लोहे का भार,
गृहस्थी का गृहस्थी गुरु,
इम डूबा ार ।

लोहे और पत्थर की बनी नाव में लोहा और पत्थर ही भर दिया जाये तो वह किस प्रकार तिर सकती है और किस प्रकार

तार सकती है। तिरने और तारने की शक्ति तो उस काठ को नाव में ही है जो स्वयं भी तिरती है और अपना आश्रय लेने वालों को भी तार देती है। त्यागी-वैरागी आत्मा स्वयं भी तिरती है और दूसरों को तार देती है।

तो जब मुनि ने सुना कि यह भोजन वेदपाठी ब्राह्मणों के लिए है, किन्तु उनके लिए नहीं है; तो वह विचार करने लगे—अहो ! ये लोग कितने मिथ्यात्व में फंसे हैं ! ये लोग अपने जैसे भोगियों को ही गुरु मान बैठे हैं। इस भ्रमणा के कारण इनका कल्याण होने वाला नहीं है। उन्होंने अवसर देखकर उपदेश दिया और कहा—तुम नहीं जानते कि ग्रहों का, वेदों का और यज्ञ का मुख क्या है ? वास्तविक यज्ञ क्या है ? तुम्हें यह भी नहीं मालूम है कि संसार से तारने वाला कौन है ?

इस प्रकार उन्होंने शब्दों में ही शब्दों का मामला भुगता दिया। फिर कहा—अगर तुम जानते हो तो कहो कि इन प्रश्नों का उत्तर क्या है।

सज्जनो ! जयघोष मुनि त्यागी थे। अतएव उन ब्राह्मणों पर शीघ्र ही उनका प्रभाव पड़ गया। वे समझ बैठे थे कि हम सब कुछ जानते हैं, हमारे पाण्डित्य का मुकाबिला कोई नहीं कर सकता, हम सर्वज्ञ से कम नहीं हैं, परन्तु मुनि ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'तुम कुछ नहीं जानते !' इस स्पष्टोक्ति का उन पंडितों पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे—इनके कथन में कुछ रहस्य होना चाहिए। साधारण व्यक्ति इस स्थान पर आकर ऐसे शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकता। अतएव मुनि का कथन असर कर गया। वह समझे कि हमारा प्ररूपण सही नहीं है और

मुनि उसके विपरीत कुछ और ही कहना चाहते हैं। हम भूले हुए मालूम होते हैं।

इस प्रकार विचार करके ब्राह्मण विद्वान् 'संकिया, कंखिया वित्तिगिच्छा समावण्णे' हो गये। अर्थात् उन्हें अपने विचारों के विषय में शंका हो उठी, मुनिराज का कथन सुनने की आकांक्षा उत्पन्न हुई और अपने प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे—हम कुछ बोलेंगे और वह भी गलत साबित हो जायेगा तो उलटी लोकहंसाई होगी। इस प्रकार वे हतप्रभ हो गये। उन्हें अपने ऊपर विश्वास न रहा। मुनि में ऐसी कुछ अनूठी तेजस्विता थी कि उनके सामने पण्डित लोग टिक न सके।

भद्र पुरुषो ! मनुष्य अनादि काल से भूलें करता आ रहा है। जब तक उसे परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता और वह छद्मस्थ है, तब तक भूलों से बचना संभव भी नहीं है। बहुत-बहुत सावधानी रखने पर भी कभी न कभी भूल हो ही जाती है। मगर बड़ी बात है अपनी भूल को सुधार लेना। जो भूल करके उसे भूल मानता है और सच्चे हृदय से उसे सुधारने के लिए उद्यत रहता है, वह भूल से होने वाले अनर्थों से बहुत अंशों में बच जाता है। पर ऐसी हिम्मत सब में नहीं होती। अधिकांश लोग भूल करके उसे छिपाने का प्रयत्न करते हैं। वे समझते हैं कि भूल स्वीकार करने से हमारा महत्त्व घट जायेगा। हमारी कीर्त्ति में कमी हो जायेगी। परन्तु ऐसे लोग भूल पर भूल करने वाले हैं। वस्तुतः ऐसे डरपोक लोग ही अधिक उपहास के पात्र बनते हैं और उन्हीं को हानि उठानी पड़ती है।

तो उन याज्ञिकों ने कहा—महाराज ! आप ही अपने प्रश्नों का उत्तर दीजिये। हम कुछ नहीं जानते।

जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने का दावा करते थे, उन्होंने अपने हथियार डाल दिये। वे मुनिराज के प्रश्नों का उत्तर उन्हीं से पूछने लगे।

तत्पश्चात् मुनिराज जयघोष ने प्रश्नों का उत्तर दिया। वह उत्तर विस्तृत है और आपको समझाने के लिए तो और अधिक विस्तार से कहने की आवश्यकता है। परन्तु इतना समय नहीं है। अतएव संक्षेप में ही कहता हूं।

मुनि बोले—वेदों का मुख अग्निहोत्र है। मगर वेद का अर्थ होता है ज्ञान। ज्ञान के द्वारा हेय-उपादेय और आत्मा-अनात्मा का स्वरूप समझा जाता है और फिर तपस्या रूपी अग्नि में कर्म रूपी ईंधन जलाया जाता है। उसमें भावना की आहुति अपेक्षित होती है। इसी प्रकार नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है। चन्द्रमा सब नक्षत्रों का स्वामी है। चन्द्रमा से ही तिथिगणना आदि अनेक व्यवहार होते हैं। और धर्म का मुख भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव हैं। इस अवसर्पिणी काल में भगवान् ऋषभ ने ही सर्वप्रथम धर्मतीर्थ की स्थापना की थी।

इसके पश्चात् मुनिराज ने ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप समझाया। कहा—जो स्वजन आदि में आसक्त नहीं होता, जो वीतराग के वचनों का अनुसरण करता है, जो रागद्वेष और भय से मुक्त होता है, तपस्वी, शान्त, दान्त, कृशकाय एवं समभावी होता है, जो किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता, हंसी-विनोद में भी असत्य का प्रयोग नहीं करता, अदत्तादान से सर्वथा विरत होता है, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, ममत्व से रहित होता है, सब प्रकार के विषयों से अलिप्त रहता है, निष्कामजीवी होता है, गृहस्थों से संसर्ग नहीं

रखता और कुटुम्ब-परिवार का परित्याग करके आत्मसाधना में जुटा रहता है, वही सच्चा ब्राह्मण कहलाता है।

मुनिराज ने उन्हें समझाया—जाति से कोई ऊंचा या नीचा नहीं होता। क्योंकि :—

ुणा बम्त्तणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा वे होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

अर्थात्—ब्राह्मण के योग्य पूर्वोक्त कर्म करने वाला ब्राह्मण होता है। क्षत्रिय के योग्य देशरक्षा आदि कार्य करने वाले क्षत्रिय कहलाते हैं। व्यापार, कृषि और पशुपालन आदि वैश्योचित कर्म करने वाले वैश्य कहलाते हैं। सेवा आदि शूद्र कर्म करने वाले शूद्र कहलाते हैं।

जैसे वकील और डाक्टर जाति से नहीं, कर्म से होते हैं, अर्थात् किसी भी कुल या वर्ण में कोई उत्पन्न हुआ हो, यदि वह वकालत करता है तो वकील कहलायेगा। डाक्टरी करने वाला डाक्टर कहलायेगा। ब्राह्मण भी वकील बन सकता है, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी वकील बन सकता है; क्योंकि अक्ल किसी जाति के लिए रिजर्व नहीं है। भारतीय संसद में ऐसे-ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं, जिनसे उच्च जाति वाले भी सलाह लेते हैं। डाक्टर अम्बेडकर का नाम आपने सुना होगा। वे भारत के कायदे-आज़म कहलाते थे। उन्होंने ही भारतीय संविधान की रचना की थी। वे यद्यपि हरिजन थे, तथापि जवाहरलालजी जैसे भी उनकी बातें मानते थे और अपनी बराबरी पर कुर्सी पर विठलाते थे। आशय यह है कि मुनि जय-घोष ने उन्हें बतलाया कि वर्णव्यवस्था का आधार गुण-कर्म है, जन्म नहीं।

इसी प्रकार उन्होंने हिंसात्मक यज्ञ की भी आलोचना की। कहा—जैसे रुधिर से लिप्त वस्त्र रुधिर से स्वच्छ नहीं होता, उसी प्रकार हिंसादि द्वारा उपार्जित पाप हिंसामय यज्ञ से नहीं धुल सकते। इन यज्ञों से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा, वरन् अकल्याण ही होगा। सच्चा यज्ञ तो तपस्या ही है।

मुनिराज कहते हैं—विजयघोष ! तू किस मिथ्यात्व में पड़ा है ? यह बाह्य अनुष्ठान आत्मा का कल्याण करने वाले नहीं हैं। तू कल्याण चाहता है तो शीघ्र से शीघ्र इस कीचड़ से बाहर निकल। इस महारंभ को त्याग कर अनारंभ की स्थिति में प्रवेश कर, अनारंभी धर्म का सेवन कर।

मुनिराज ने कहा—जो भोगी होते हैं, वे भोगों में और लिप्त हो जाते हैं, किन्तु जो अभोगी हैं, जिन्होंने अन्तःकरण से भोगों को रोगों का कारण समझ लिया है, वे कभी भोगों के कीचड़ में नहीं फंसते।

मुनि ने इस विषय को स्पष्ट और सुबोध बनाने के लिए उदाहरण दिया। कल्पना करो, किसी ने दो गोले बनाये। एक बालू का और दूसरा चिकनी मिट्टी का। उसने उन दोनों गोलों को दीवार पर दे मारा। तो चिकनी मिट्टी का गोला दीवार से लगने पर वहीं चिपक जायेगा, किन्तु बालू का गोला दीवार से टकरा कर नीचे गिर जायेगा, क्योंकि उसमें चिकनापन नहीं। हां, रेत के कुछ कण दीवार पर चिपके रह जायेंगे, किन्तु वे भी हवा लगने से सूख कर गिर जायेंगे या हाथ फेरने से गिर जायेंगे। उन्हें हटाने के लिए विशेष श्रम नहीं करना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि आसक्ति का चिकनापन नहीं है तो हिंसा आदि के छोटे-मोटे पाप पश्चात्ताप करने से ही नष्ट हो

जाते हैं। परन्तु जो भारी कर्म जीव होते हैं, वे तीव्र आसक्ति और संक्लेश के साथ पाप करते हैं। उनके पाप चिकने बंधते हैं।

पंजाब में एक हांसी नामक नगर की घटना है। गुरु महाराज एक दिन गोचरी के लिए गये। एक जैन घर में पहुंचे तो वहां एक युवती बाई थी। गुरु महाराज ने पूछा—आहार हो गया है ? यह सुनते ही वह बाई रोने लगी। गुरु महाराज ने उसके रोने का कारण पूछा तो वह और अधिक रोने लगी। उसका दिल पहले से भरा हुआ था और रोने को हो रहा था। सहानुभूति का स्वर पाकर वह उमड़ पड़ा।

आखिर महाराज ने पूछा—बाईजी, हमें बतलाने योग्य बात हो तो बतलाओ। हम साधुओं को तुम्हारे घर का या दिल का क्या पता ?

तब उस बाई ने धीमे स्वर में कहा—महाराज, कुछ न पूछिये। मैं डूब गई। ज्यों ही मैंने प्रातःकाल चूल्हे में आग जलाई तो एक छिपकली जल कर मर गई। वह चूल्हे में न जाने कैसे गिर पड़ी। पंचेन्द्रिय जीव की घात हो गई। मैं बड़े ध्यान से काम करती हूं, फिर भी हिंसा हो गई। इसके लिए मुझे अत्यन्त पश्चात्ताप हो रहा है।

सज्जनो ! कितनी बड़ी बात है ! चाहे दिखावे के लिए कोई कितनी ही तपस्या करे, तेला करे या अठाई करे, मगर अन्तःकरण से पश्चात्ताप किये बिना कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती। पश्चात्ताप की भावना होना मामूली बात नहीं है। पश्चात्ताप की तीक्ष्ण तलवार की धार पापों को काट फेंकती है। यह पश्चात्ताप लघुकर्मी जीवों को ही होता है। गुरुकर्मी जीव हिंसा होने पर कहता है—

'जिसे मरना था वह मर गया। मैंने थोड़े ही मारा है।" वे इस प्रकार की मिथ्या सान्त्वना देकर अपने आपको आश्वासन देते हैं।

सज्जनो ! वह रुदन करने वाली वाई लघुकर्मी थी, अतएव पंचेन्द्रिय प्राणी का घात होने पर भी उसके निकाचित कर्मों का बंध होना संभव नहीं। उसके विपरीत, जो लोग पाप करके प्रसन्न होते हैं और अपनी चतुराई प्रकट करते हैं, वे पंचेन्द्रिय के वदले एकेन्द्रिय की हिंसा से भी कर्मों का महान् बंध कर लेते हैं।

स्कंधकजी ने काचेर की अर्थात् चीभड़े की त्वचा वड़ी सफाई से उतारी और उतारकर अति प्रसन्न हुए और वार-वार अपनी चतुराई की प्रशंसा करने लगे। इस कारण उन्होंने निकाचित कर्मों का बंध किया। परिणामस्वरूप आगे चलकर उन्हें भी अपने शरीर की खाल उतरवानी पड़ी। परन्तु तुम लोग तो प्रायः आयेदिन काचेरा आदि खाते हो और शाकादि के लिए अनेक कार की घीया, काली तोरी आदि काटते हो, अगर निकाचित कर्मों का वंध कर लिया तो कहीं ठिकाना न लगेगा ! मगर नहीं, निकाचित कर्म तभी बंधता है, जब उसमें विशेष रूप से भावों की उग्रता हो, आसक्ति हो और पाप करने के पश्चात् प्रसन्नता का अनुभव किया जाये !

विवेकवान् तो ऐसा कृत्य करके कहता है—क्या करूं, मेरी इन्द्रियां वश में नहीं हैं; इस कारण ऐसी वस्तुओं का उपभोग करता हूं। जिन्होंने अपनी रसना पर विजय प्राप्त कर ली है, वे धन्य हैं। जो एकेन्द्रिय जीवों को भी अभयदान देते हैं, वे प्रशंसनीय हैं ! मैं कितना गया-वीता हूं कि अपनी जीभ को भी अपने काबू में नहीं कर पाता ! जो इस प्रकार कहता है और चित्त में ऐसा ही विचार करता है और अपनी अक्षमता के लिए वास्तव में ही

पश्चात्ताप करता है, उसे निकाचित कर्मबन्ध नहीं होता। उसे बंध तो अवश्य होता है,परन्तु वह इतना हल्का होता है कि पश्चात्तापादि सहज प्रयत्न करने से ही नष्ट हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा में जितना-जितना तीव्र संक्लेश भाव होगा, पाप में जितनी अधिक प्रगाढ़ता अथवा आसक्ति होगी, उतने ही अधिक चिकने कर्म बंधेंगे। जैसे चिकनी मिट्टी का गोला दीवार पर चिपक जाता है, उसी प्रकार यौगिक संक्लिष्टता के सद्भाव में निकाचित कर्मों का बंध हो जाता है।

वेदनीय कर्मों का अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। उस की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की है। अगर किसी ने किसी को कष्ट पहुंचाया और असातावेदनीय कर्म का बंध किया, तो उसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। अगर वह पश्चात्ताप कर लेता है और दो घड़ी में ही जाकर उससे क्षमा-याचना कर लेता है और प्रायश्चित ले लेता है, तो उसका पाप साफ हो जाता है। इसके विरुद्ध, अगर उसने उत्कृष्ट स्थिति का बंध किया तो उस कर्म का संबंध लम्बे काल तक चालू रहता है और तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक वह नहीं छूटता। वह कुछ पहले तो कुछ पीछे भोगता है।

उदाहरणार्थ, किसी ने किसी से पांच हज़ार रुपये का ऋण लिया। वह उसमें से कुछ रुपया एक मिति पर और कुछ रुपया दूसरी मिति पर चुकता कर रहा है और इससे उसका भार कम होता है; मगर जिस मिति पर पूरी रकम देने का वायदा किया है, उस मिति तक तो पूरी रकम की अदायगी करनी ही पड़ेगी। इसी प्रकार जीव जो असातावेदनीय कर्म का बंध करता है तो

जघन्य दो घड़ी में और उत्कृष्ट तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम में उसे भोग ही लेना पड़ता है।

कहने का आशय यह है कि वेदनीय कर्म के अवाधाकाल की अर्थात् बंध होने के पश्चात् फल न देने के समय की उत्कृष्ट मर्यादा तीन हजार वर्ष की है। इतने समय तक वह कर्म सत्ता में बना रहता है, फल नहीं देता। मगर यह काल-मर्यादा समाप्त होने पर अवश्य उसका उदय आता है और फल भोगना पड़ता है।

हम देखते हैं कि कई पापी जीव जुल्म करते हैं और जीवों को सता कर भी आनन्द मनाते और आनन्द भोगते हैं। यहां कोई कह सकता है कि अधिक पाप करने वाले आनन्द उड़ाते हैं और धर्म करने वाले दुःखी दिखाई दे रहे हैं। ऐसा सोचने वालों से कहना है— भैया ! ऐसा कर कह दूसरों को धर्म से विचलित मत करो। किसी को पाप की ओर प्रवृत्त मत करो। तुम अपनी दृष्टि को सरल और समीचीन रक्खो। अगर कोई मनुष्य वर्तमान में पाप करके भी आनन्द भोग रहा है तो वह अपने पाप का फल नहीं भोग रहा है ; उसने पहले कभी जो पुण्य उपार्जन किया होगा, उसका फल भोग रहा है। जिस प्रकार वह पिछले पुण्य इस समय भोग रहा है, उसी तरह इस समय के पापों का फल किसी आगामी जन्म में भोगेगा। देर हो सकती है, अंधेर नहीं हो सकता।

जो पूर्वकृत पुण्य का उपभोग कर रहा है और भविष्य के लिए पापों का उपार्जन कर रहा है, वह उस उड़ाऊ आदमी के समान है जो अपने पूर्वजों की संचित पूंजी को पानी की तरह बहा रहा है और नवीन कुछ भी नहीं कमाता। ऐसा आदमी अधिक

काल तक सुखी नहीं रहेगा। वह दीवालिया है । पीछे पछतायेगा और जो उसका अनुकरण करेगा उसे भी बुरी तरह रोना पड़ेगा।

किसान खेत में बीज डालता है। कोई बीज दूसरे दिन अंकुरित होता है और कोई दस दिन बाद। इसी प्रकार कर्मों की अवधि है । जिन कर्मों का उदयकाल आ गया है, उन्हें भोगना पड़ता है और जिनका उदयकाल अभी नहीं आया है, उन्हें भोगने में देरी है। ये पर्चियां निकलती ही रहती हैं। उन्हीं के अनुसार जीव को शुभ-अशुभ कर्म भुगतने पड़ते हैं। मगर यह निस्सन्देह है कि एक न एक दिन पर्ची निकलेगी जरूर ! दावादूबी चलने वाली नहीं है। अतएव यह मत समझो कि कोई पाप कर्म के उदय से आनन्द का उपभोग कर रहा है।

हां, तो मनुष्य हंस-हंस कर कर्म बांध लेता है, परन्तु भोगते समय रोना पड़ता है । कर्म बांधते समय आत्मा को जितनी प्रसन्नता होती है और जितनी संक्लेश की अधिकता होती है, कर्मबंध उतना ही अधिक प्रगाढ़ होता है।

सम्यग्दृष्टि जिस काम को करता है, वही मिथ्यादृष्टि करे और दोनों की बाह्य चेष्टाओं में कोई अन्तर न दिखाई दे, तो भी दोनों की भावनाओं में भारी अंतर होता है। सम्यग्दृष्टि कर्म का बंध करता हुआ कर्म को तोड़ भी रहा है ; मगर मिथ्या-दृष्टि की बात दूसरी है। इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि में अनन्तानुबंधी कषाय---जो सब से अधिक प्रबल होता है, विद्यमान नहीं होता, किन्तु मिथ्यादृष्टि में वह होता है और वही तीव्रतम विपाक का जनक है।

जो कोई भी आरम्भ किया जाता है, वह बंध का कारण तो अवश्य होगा, परन्तु उस बंध में अध्यवसायों की मन्दता या तीव्रता

के कारण बहुत अंतर पड़ जाता है। अतएव देखना यह चाहिए कि किसी भी चेष्टा के पीछे कितनी आसक्ति है ? अगर आसक्ति है और वह तीव्र है तो प्रगाढ़ बंध होगा और यदि आसक्ति है तो बंध हल्का होगा।

सज्जनो ! केवली भगवान् के समान अनासक्त और कौन होगा इस संसार में ? किन्तु सयोग अवस्था में अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में उनको भी कर्मबंध होता है। वहां बंध है, उदय है, भोग है और निर्जरा भी है। किन्तु केवली भगवान् कर्मों के ऋण को इकट्ठा नहीं होने देते। इस हाथ लिया और उस हाथ दिया वाली लोकोक्ति उन पर लागू होती है। वे प्रथम समय में कर्म का बंध करते हैं, दूसरे समय में भोगते हैं और तीसरे समय में निर्जीर्ण कर देते हैं। बस, उसी समय बांधा और साथ ही साथ भोग कर समाप्त कर दिया।

बात यह है कि चार प्रकार के बंधों में से स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय के उदय से होते हैं और प्रकृतिबंध तथा प्रदेशबंध योग के निमित्त से होते हैं। तेरहवें गुणस्थान में योग का सद्भाव होता है, परन्तु कषाय का अभाव होता है। अतएव योगनिमित्तक प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होने पर भी स्थितिबंध और अनुभागबंध वहां कषाय के अभाव के कारण नहीं हो सकते। स्थितिबंध के बिना आत्मा में कर्म ठहर नहीं सकते और न उनका विपाकोदय ही हो सकता है। यही कारण है कि केवली भगवान् की आत्मा में कर्म ठहरते नहीं ; सिर्फ प्रदेशोदय होकर कर्म की निर्जरा हो जाती है।

कल्पना कीजिये, एक कमरे में दो ओर छेद हैं। एक छेद में से पानी आता है। कमरा ऐसा ढलाव वाला है कि पानी किसी

जगह ठहर नहीं सकता। ऐसी स्थिति में जैसे ही आता है, वैसे ही दूसरे छेद से बाहर निकलता जाता है। कमरे में पानी रुकता नहीं है। यही स्थिति अरिहन्त भगवान् के कर्मबंध की समझिये।

दूसरा उदाहरण लीजिये। पक्की सड़क बनाई जाती है तो इंजिन पत्थर की कांकरों को रोलर से दबाता रहता है। जब गिट्टी दब जाती है तो फिर सड़क पर मिट्टी डाली जाती है और पानी छिड़क कर फिर रोलर फिराया जाता है। जब रोलर फिराया जाता है तो उसपर मिट्टी चिपकती है, मगर मशक वाला उस रोलर पर पानी डालता रहता है, जिससे वह मिट्टी चिपकने के साथ ही छूटती भी जाती है। इस प्रकार मिट्टी का चिपकना बंध है तो उसका छूटना निर्जरा है।

बस, यही स्थिति केवलियों के कर्मबंध की है। वहां कर्म आते हैं और चले जाते हैं। ठहर नहीं पाते। उन्होंने कर्ज़ लिया और उसी समय दे भी दिया। कर्ज़ इकट्ठा होने से रकम बड़ी दिखाई देने लगती है और फिर ब्याज चुकाना भी कठिन हो जाता है।

तो मैं कहने जा रहा था कि जब निकाचित कर्म बंध जाते हैं, तो उन्हें भोगना ही पड़ता है, किन्तु निधत्त कर्म जप-तप से कट जाते हैं। अर्थात् उनका प्रदेशोदय ही होता है, विपाकोदय नहीं होता। अगर ऐसा न हो और जितने कर्म बांधे जाते हैं, सब विपाक से भोगने पड़ें तो मोक्ष होना असंभव हो जाये। क्योंकि चरमशरीरी जीव भी भव-भवान्तर में भोगने योग्य कर्मों का बंध करता है। उन्हें भोगने के लिए भव-भवान्तर करने पड़े और फिर उन भव-भवान्तरों में पुनः वैसे ही कर्मों का बंध हो। इस प्रकार कर्मभोग की परम्परा कभी समाप्त ही न हो सके। मगर ऐसा नहीं है। जो निधत्त कर्म हैं, वे जप-तप की क्रिया करने से, तीव्र रस

वाले होने पर भी मन्द रस वाले हो जाते हैं। यही नहीं, आत्मा में ऐसी शक्ति है कि वह निकाचित कर्मों का भी उपक्रमण कर सकता है, मगर वह निधत्त कर्मों के उपक्रमण की तरह सहज नहीं होता।

मदिरा में तेज मादक-शक्ति होती है, किन्तु उसमें जल मिला दिया जाये तो वह हल्की हो जाती है। ज्यों-ज्यों उसमें पानी की मात्रा बढ़ती जायेगी, मादक-शक्ति कम होती जायेगी और मदिरा की तीव्रता घटती जायेगी। ठीक इसी प्रकार जप-तप द्वारा पापों का बंध हल्का होता जाता है—तीव्र रस मंद-रस के रूप में परिणत हो जाता है और लम्बी स्थिति घट कर थोड़ी हो जाती है। इसके विपरीत, अगर भावों में अधिक तीव्रता आ जाये तो मन्द रस तीव्ररस भी बन जाता है और कर्म अधिक गाढ़े हो जाते हैं।

किसी को १०५ डिग्री ज्वर चढ़ा हो और इंजेक्शन या औषध का प्रयोग किया जाये तो वह कम हो जाता है, इसी प्रकार कर्म के रस की तीव्रता भी जप-तप आदि क्रियाओं द्वारा कम की जा सकती है।

सज्जनो! कर्मवर्गणाएं अधिक होती हैं तो उनका असर भी ज्यादा होता है। कर्मवर्गणाओं में बड़ी भारी शक्ति है। उन्होंने आत्मा को असली स्वरूप से च्युत कर दिया है, विकृत कर डाला है, राजा से रंक बना दिया है। मनुष्य कितना लम्बा-चौड़ा होता है, परन्तु जरा-सी शराब पीने से पागल हो जाता है। कर्मवर्गणा के परमाणु मन, दो मन वजन के नहीं है। उनमें छटांक भर भी गुरुत्व नहीं है, राई के दाने के बराबर भी वजन नहीं है। शरीर आठस्पर्शी है और कर्म चौस्पर्शी हैं। कर्म भावी पुद्गलों में परस्पर में वजन के चढ़ाव-उतार का तारतम्य भी नहीं है, फिर भी उनमें

अनन्त-अनन्तगुणा उतार-चढ़ाव है। किसी की कर्मवर्गणा अनन्तगुणी हीन है, किसी की अनन्तगुणी अधिक है। कर्म अगुरुलघु अवस्था में ही रहते हैं। उनमें न लघुपन आता है, न भारीपन आता है।

संसार में अनन्त-अनन्त ाणी हैं और प्रत्येक प्राणी की आत्मा के असंख्यात-असंख्यात आत्मप्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त कर्मपुद्गल स्थित हैं। ज्ञानी कहते हैं कि कदाचित् संसार के समस्त जीवों के कर्म-पुद्गल एकत्र किये जायें तो उनका बोझ राई के दाने के बराबर भी नहीं होगा। यद्यपि भूतकाल में कभी किसी ने सब जीवों के कर्मपुद्गलों को एकत्र किया नहीं है, भविष्य में कोई करेगा नहीं और उन्हें एकत्र करना शक्य भी नहीं है, तथापि असत्कल्पना से वस्तु स्वरूप दिखलाने के लिए ऐसा मान लिया जाता है।

इस प्रकार कर्म इतने हल्के होने पर भी इतने भारी हैं कि जीव को सातवें नरक तक ले जाते हैं।

और राई के दाने को भी छोड़ दीजिये, यदि अनन्तानन्त जीवों के समस्त कर्म इकट्ठे किये जायें तो उनका वजन बाल के अग्र भाग के बराबर भी नहीं होगा। बाल आठस्पर्शी है, किन्तु कर्म कितने भी इकट्ठे क्यों न हों, चौस्पर्शी ही रहते हैं। वे अपने धर्म-स्वभाव पर कायम रहते हैं। इतने हल्के होने पर भी वे जीव को अधोगति में ले जाते हैं। उसका कारण यह है कि उनमें विपाक है, रस है और वह भी इतना तीव्र होता है कि वह आत्मा को बांध लेता है और बेमान कर देता है। थोड़ा-सा जहर भी प्राणों को नष्ट कर देता है।

भद्र पुरुषो! कर्म बड़े विचित्र हैं। बड़े से बड़े शूरवीर को भी नीचे गिरा देते हैं। सत्य ही कहा है :—

आरूढ़ाः प्रशमश्रेणीं, श्रुतकेवलिनोऽपि च ।
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो दुष्टेन कर्मणा ।।

अर्थात्—यह कर्म इतना दुष्ट है कि जो उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हो चुके हैं और सम्पूर्ण श्रुत-सागर के पारगामी हो कर श्रुतकेवली का पद प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें भी अनन्त काल तक संसार में भटकाने से नहीं चूकता !

तो जो कर्म बंध जाते हैं, उन्हें भोगना ही पड़ता है। जीव अपने आप ही कर्म करता है और अपने आप ही उनके चक्कर में फंस जाता है। मकड़ी मक्खी आदि जंतुओं को फंसाने के लिए जाल फैलाती है। वह अपने मुंह से तार निकालती है। उस तार को कभी लम्बा कर देती है और कभी समेट भी लेती है। कवि कहता है :—

नट उतरे वांस बढ़े, नट चढ़े वांस घट जाये ।
एक ंभा यह हुआ, नट में वांस ाय ।।

जब नटरूप मकड़ी ऊंची चढ़ती है तो तार रूपी वांस घटता जाता है, क्योंकि मकड़ी तार को मुंह से लपेट कर अपने अंदर लेती जाती है और जब नीचे उतरती है तो तार रूपी वांस बढ़ता जाता है, क्योंकि तार मुंह से छोड़ती जाती है। वड़ा आश्चर्य तो यह है कि यह वांस उसी नट में समा जाता है अर्थात् मकड़ी तार को अपने अंदर ही ले लेती है।

हां, तो मकड़ी अन्दर से तार निकाल कर जाल वनाती है, ताकि मक्खी, मच्छर आदि जंतु आकर उसमें फंस जायें और जब उसमें कोई फंस जाता है तो वह अत्यंत प्रसन्न होती है। मगर याद रखना मकड़ी ! कभी न कभी तू भी अपने ही वनाये जाल में ऐसी फंसेगी कि निकलना कठिन हो जायेगा।

इसी प्रकार जो दूसरों को फंसाना चाहते हैं, दुखी करना चाहते हैं, वे संभव है दूसरों को फंसा सकें और दुखी कर सकें अथवा ऐसा न भी कर सकें, परन्तु स्वयं तो फंसते और दुखी होते ही हैं। अतएव विवेकशील मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे दुष्कर्मों से दूर रहे और सत्कर्मों में प्रवृत्त हो। कर्मबंध से बचना मनुष्य जीवन का सब से उत्तम कर्त्तव्य है। कर्म किस प्रकार बंधते हैं, यह समझने के लिए एक स्थूल उदाहरण लीजिये :—

मान लीजिये, किसी ने हलवा बनाने का विचार किया। हलुए की जो सामग्री होती है—घी, सूजी, चीनो आदि वह सब तैयार हो गई। बनाने वाले ने सब चीजों को पृथक-पृथक रूप से थाल में रख दिया। वह हलुए का सामान है और किसी अपेक्षा से वह हलुआ हो है। किन्तु वह अभो निधत्त है, क्योंकि अभी घोटा नहीं गया है और एकमेक नहीं किया गया है। उसी समय बनाने वाले को खयाल आया कि अभी हलुआ बनाने का अवसर नहीं है और यह सोच कर उसने सब चीजें उनके अपने-अपने ठिकाने रख दीं। वे सब चीजें अलग-अलग पड़ीं थीं और निधत्त रूप में थीं, किन्तु निकाचित रूप में नहीं थीं और उनका बंध नहीं पड़ा था। जब सीरा घुट गया तब आप चाहें कि इसमें से घी, शक्कर और सूजी अलग-अलग कर लें तो ऐसा होना दुश्शक्य हैं। वह घुट गया सो घुट गया। वह निकाचित बंध पड़ गया।

इसी प्रकार निकाचित रूप में बद्ध कर्मों को भोगना ही पड़ता है। अगर परिणामों में रूक्ष वृत्ति होगी और आसक्ति की तीव्रता न होगी तथा संक्लेश की तीव्रता न होगी तो निकाचित बंध भी न होगा और उस स्थिति में बंधे हुए कर्मों को तोड़ना कठिन न होगा। उनको निर्जरा फल भोगे बिना भी हो सकती है।

इसीलिए कहा जा रहा था कि एक ही क्रिया को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि करता है, ज्ञानी भी वही क्रिया करता है तथा अज्ञानी भी करता है, किन्तु दोनों के परिणामों की धारा भिन्न-भिन्न होती है। सम्यग्दृष्टि भी उस क्रिया को करता हुआ वंध करता है, क्योंकि ऐसी कोई क्रिया नहीं जिसके करने पर कर्मवंध न हो, फिर भी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के वंध में बहुत अन्तर होता है।

वह पंखा ही क्या जिसमें से हवा न निकले। पंखा तेज चलता है तो वायु की गति भी तेज होती है और ज्यों-ज्यों पंखे की गति मंद होती है, उसमें से निकलने वाली वायु भी मंद होती है। इसी प्रकार योगों की गति जितनी तीव्र या मंद होती है, कर्मवंध भी भी उतना ही भारी अथवा हल्का होता है। किन्तु कर्मबंध होता अवश्य है। इस प्रकार जहां क्रिया है, वहां कर्मों का वंध भी है। कर्म किसी का भी लिहाज़ नहीं करते। चाहे कोई ग़रीब हो या अमीर हो, साधु हो या श्रावक हो; जो भी क्रिया करेगा, वह कर्म-वंध का भागी होगा। हां, सम्यग्दृष्टि क्रिया करके बंध तो करता है, किन्तु अपनी शुद्ध भावना के कारण निर्जरा भी करता है। मगर मिथ्यादृष्टि अपने मिथ्यात्व के कारण पाप करके प्रसन्न होता है। वह कहता है—देखो, मैंने उसकी आंखों में धूल झोंक ही दी! मैंने दिन में ही उसे उल्लू बना दिया!

किन्तु अरे प्राणी! तू दूसरों को उल्लू बना रहा है अथवा स्वयं उल्लू वन रहा है? अरे, अपना घर तो डाकू भी छोड़ देता है। पर तू अपने आपको भी नहीं छोड़ रहा है; तू आत्मा के साथ भी ठगाई कर रहा है! तू कहता है—मैंने उल्लू बना दिया; मगर वह क्या बना तू अवश्य उल्लू बन गया। वह तो देख रहा

मगर तेरी दोनों बंद हो गईं ; क्योंकि तू देखता हुआ भी कुकृत्य कर रहा है ! आत्मा को भी धोखा देने से नहीं चूकता है ! हे मूढ़ ! तू कपट करता है, धोखा देता है, विश्वासघात करता है और पापाचरण करके फूला नहीं समाता ! तू अपनी आत्मा के साथ घोर शत्रुता कर रहा है ! इसका परिणाम क्या होता है :—

समझू संके पाप से, झू हरसंत ।
वे लूखा वे चीकना, इण विध कर्म बंधंन ॥

सज्जनो ! कर्म बांधना तो आसान है, मगर उन्हें भोगना बहुत कठिन है । अतएव ज्ञानी जनों ने बार-बार चेतावनी दी है, सावधान किया है और बतलाया है कि सदा सावधान रहो, क्षण भर भी प्रमाद में मत पड़ो । सदैव अपनी भावना की चौकसी करते रहो और अपने मन को संभाले रहो । उसे पाप की ओर मत बढ़ने दो और सदा शुभ कृत्य की ओर ही प्रेरित करते रहो । इतना समझाने पर भी और गुत्थियां खोल कर समझाने पर भी अगर कोई इतना नहीं समझता है तो गुरु महाराज भी क्या कर सकते हैं ? पंजाबी भाषा के एक भजन में कहा है :—

कर निर्णय समझाइयां रमजां ज्ञान दियां
प्रथम मन को शुद्ध बनाया,
सत गुरु गूढ़ा रंग चढ़ाया,
नाम मजीठा पाइयां ॥ रमजां ०॥ १॥

अविद्या—नींद से सोते जगाया,
महा—वाक्य का ढोल बजाया,
देवे संत दुहाइयां ॥ र० २ ॥

जनम–मरण दी कट गई फांसी,
प्रभु पाया पूर्ण अविनाशी।
भइयां चित्त शीतलाइयां ॥ र० ३ ॥
सब जग ढूंढ ढूंढ मैं हारा,
घट में देखा प्रीतम प्यारा।
हुइयां दूर जुदाइयां ॥ र० ४ ॥
ना कुछ खोया, ना कुछ पाया,
जैसा था बतलाया।
सुरतां गगन चढ़ाइयां ॥ र० ५ ॥

सज्जनो ! गुरु महाराज तुम्हारे शुभचिन्तक हैं, हितैषी हैं और वे समान रूप से समस्त प्राणियों का भला चाहते हैं। प्राचीन काल में इस आर्यावर्त्त में गुरु का बड़ा महत्त्व रहा है। जो किसी को अपना गुरु नहीं बनाता था, उसे लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। 'निगुरा' या 'निगोड़ा' यह आज भी गाली समझी जाती है। इसका अर्थ यही है कि यह व्यक्ति असभ्य, अज्ञानी और असंस्कारी है, क्योंकि इसका कोई गुरु नहीं है—यह निगुरु है। गुरु अंधकार में से प्रकाश की ओर ले जाने वाले दीपक के समान है। 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है —

'गु' शब्दोऽन्धकारस्य, 'रु' शब्दस्तद्विनाशनः।

अर्थात् 'गुरु' इस पद में 'गु' शब्द अंधकार का वाचक है और 'रु' शब्द उस अंधकार के विनाश का वाचक है। तात्पर्य यह है कि जो अज्ञानान्धकार का निवारण करके ज्ञान की ज्योति जगमगा देता है, वह गुरु कहलाता है। इसी कारण यह भी कहा गया है :—

नतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मेलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

अज्ञान रूपी अंधकार से जो अंधे हो रहे हैं, उनके नेत्रों में ज्ञान की अंजन–सलाई आंज कर जिसने आंख खोल दी अर्थात् ज्ञान का दान दिया–उस गुरु को मेरा नमस्कार हो ।

गुरु जीवन-नौका का कर्णधार है, पथप्रदर्शक है । गुरुकृपा से दुस्तर संसार-सागर भी सुतर हो जाता है ।

सज्जनो ! तुम्हारे हित के लिए मैं भी प्रयत्न कर रहा हूं–पसीना बहा रहा हूं । छोकरा–छोकरी समझदार हो तो कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती । वे संकेत में ही समझ जाते हैं । किन्तु अगर संकेत से नहीं समझते तो शिक्षक को कहा-सुनी भी करनी पड़ती है । बच्चा स्कूल जाता है और उसकी लंगोटी खुल जाती है तो शिक्षक को वह भी बांधनी पड़ती है । इसी प्रकार आपको जब प्रवचनसभा के योग्य प्राथमिक बातों में गड़बड़ी करते देखता हूं तो मुझे कहना पड़ता है–अनुशासन की शिक्षा देनी पड़ती है । डाक्टर और वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह जिस रोगी को अपने चार्ज में ले, किसी प्रकार का संकोच या लिहाज़ न करता हुआ उसके लाभ की बात उसे कहे । अगर चिकित्सक ऐसा नहीं करता तो अपने कर्त्तव्य से चूकता है । वह सफल चिकित्सक नहीं कहा जा सकता और अपने रोगी का हित नहीं कर सकता ।

तो मैं आपके हित के लिए ही प्रयत्न कर रहा हूं । शास्त्र की गहन बातों को भी अधिक से अधिक सरल बना कर आपके समक्ष रखता हूं । हेतु और दृष्टान्त देकर समझाता हूं । इतना करने पर भी अगर आपकी समझ में न आये तो मैं क्या कर सकता हूं ?

बुद्धिमान् चिकित्सक सबसे पहले रोगी के पेट को साफ करता है विरेचन कर। इसी प्रकार गुरु महाराज विरेचन द्वारा सर्वप्रथम मिथ्यात्व की गंदगी को मन से दूर करते हैं। वस्त्र रंगने से पहले उसे धोया जाता है और फिर उसपर रंग चढ़ाया जाता है। और जिस पर पक्का रंग चढ़ गया तो फिर वह उतरने वाला नहीं है। अर्जुन माली पर, गजसुकुमार पर, राजा प्रदेशी पर और राजा संयती पर रंग चढ़ा था। वह ऐसा चढ़ा कि फिर नहीं उतरा। किन्तु वह रंग चढ़ा कब ? तभी जब कि कपड़ा बिल्कुल साफ कर दिया गया था। अगर कपड़ा तेलिया तप्पड़ हो, जिस पर घी, तेल वगैरह लग रहा हो और उसके कारण गाढ़ा मैल जम गया हो तो उस पर रंग नहीं चढ़ सकता। इसी प्रकार जिसकी आत्मा तेलिया-तप्पड़ की तरह राग-द्वेष से परिपूर्ण है, उसपर अगर सम्यग्ज्ञान का रंग नहीं चढ़ता और समकित का रंग नहीं चढ़ता तो इसमें रंग या रंगरेज का क्या अपराध है ? यह तो उस तप्पड़ का ही दोष है। किन्तु जब साफ वस्त्र पर एक बार मजीठिया रंग चढ़ जाता है तो उतरना कठिन हो जाता है। वह स्थायी बन जाता है।

गुरु महाराज ने उन लोगों को, जो अविद्या में, जहालत में, और कुरूढ़ियों के पाश में पड़े सो रहे थे, जगा दिया। भगवान् के महोपदेश का, जिन-वाणी का ढोल बजा कर सोतों को जगा दिया। उन सन्तों ने पुकारा—जागो, जागो। अविद्या को छोड़ो और ज्ञान के प्रकाश में आओ। महाविजय का ढोल ही महावचन है। उसे जो सुनता है, उसका कल्याण हो जाता है। सज्जनो ! जिसने गुरु के इशारे को, आशय को समझ लिया और जान लिया कि यह हमारे हित के लिए ही पसीना बहा रहे हैं, घोर कष्ट उठा रहे हैं और ऐसा जान कर उनके वचनों को जीवन में उतार लिया,

जानते हो वह दलाल कौन है ? वह हैं गुरु महाराज । इधर आत्मा और उधर परमात्मा है। पुद्गलचंदजी दोनों के मिलाप में बाधा डाल रहे हैं। दोनों को मिलने नहीं देते । तब गुरु महाराज कहते हैं कि पुद्गल की मध्यस्थता को त्याग दो और शादी का सौदा फौरन पट जायेगा । इस प्रकार जिसे गुरु पर विश्वास है, उस आत्मा की शादी अवश्य हो जायेगी । जो गुरु से दूर रहता है, जो भाग्यहीन है, वह रंडवा ही रह जायेगा—उसका परमात्मा के साथ संबंध नहीं जुड़ सकेगा ।

गुरु महाराज फरमाते हैं—हे आत्मन् ! तुझे इस विषम संसार में जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल हो चुका है, किन्तु न तूने कोई नवीन वस्तु प्राप्त की है और न अपने मूल चेतनभाव को खोया है । तेरी अनन्त आध्यात्मिक सम्पत्ति जैसी अनन्त काल पहले थी, वैसी ही अब भी है । वह सम्पत्ति ऐसी है कि उसे कोई हरण नहीं कर सकता, छीन नहीं सकता, नष्ट नहीं कर सकता । परन्तु जब तू स्वयं ही उसे भूल जाता है तो वह छिप जाती है । उसे प्रकाश में ले आने की ही आवश्यकता है ।

आत्मा चेतन था, चेतन है और चेतन ही रहेगा । आत्मा की चेतना शक्ति कहीं जाने वाली नहीं । आत्मा का कुछ बिगड़ने वाला नहीं है । मगर आत्मा अनात्म भाव में रमण करता-करता अपने शुद्ध स्वरूप को भूल गया है । तू कुछ और है किन्तु अपने को और ही कुछ समझ रहा है ।

गुरुदेव तेरे अज्ञान अंधकार को दूर करते हुए कहते हैं : तू शुद्ध है, तू विशुद्ध है, तू अनन्त चेतना का धनी है, आनन्दमय है, असीम आत्मिक ऐश्वर्य का अपार सागर तेरे भीतर लहरा रहा है । किन्तु कर्मबंध के कारण तेरी शक्तियां कुंठित हो गई हैं ।

तू सम्राट् होकर भी अपने आपको रंक समझ रहा है—हे ज्योतिपुञ्ज ? तू जाग, प्रतिबोध पा, अपने को समझ और अपनी स्वाभाविक सम्पत्ति का अधिकारी बन। बस, एक बार अपने को समझने और अपने ऊपर विश्वास करने की आवश्यकता है। फिर तेरा कल्याण हो जायेगा। तेरी अनन्त-अनन्त काल की दीनता दूर हो जायेगी।

तो मैं कह रहा था कि इस आत्मा को ऊंची अथवा नीची गति में ले जाने वाला कोई दूसरा नहीं है। यह सब तो अपनी-अपनी क्रियाओं पर निर्भर है। उच्च क्रिया करने से उच्च गति और नीच क्रिया करने से नीची गति प्राप्त होती है। उच्च आचार का पालन करने वाले स्वर्ग आदि के सुख भोगते हैं और नीच कृत्य करने वाले नरक निगोद की यातनाओं के भाजन बनते हैं।

सज्जनो ! वीतराग की इस वाणी के अमृत का पान करके अजर-अमर बनो। जो भव्य जीव शुभ आचरण करके अपनी आत्मा को पवित्र बनायेंगे, वे सर्वथा प्रकारेण कर्मों का उच्छेदन करके संसार-सागर को पार करेंगे और अक्षय, अनन्त, अव्यवाध मुक्ति-सुख को प्राप्त करेंगे। वे परमात्मा की आराधना करके स्वयं परमात्मपद प्राप्त कर लेंगे और कृतार्थ बन जायेंगे।

ब्यावर
२७-८-५६

उसका बेड़ा पार हो गया। वह तिर गया। कहा है—

बड़े- पापी हत्यारे,
प्रभु नाम ने पल में तारे।
हो गये पार ोल, पापी जीवड़िया!
प्रभु नाम मुख बोल पापी जीवड़िया॥

गुरु देव कहते हैं—हे जीव! तू प्रभु के गुण गा। इसी से तेरी आत्मा का कल्याण होगा। भगवद्गुणगान से बड़े-बड़े पापी पार उतर गये हैं। राजा प्रदेशी के विषय में शास्त्र में बतलाया है कि वह अत्यन्त प्रचण्ड पाप कर्म करने वाला था। झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा बनाने वाला था। उसके हाथ रुधिर से लिप्त रहते थे। अत्यन्त निर्दय, क्रूर और प्रचण्ड था। किन्तु वही प्रदेशी जब साधु संगति में आ गया, सन्त के समीप जा पहुंचा तो उसका बेड़ा पार हो गया। तो जो सद्गुरु के वचनों को जीवन में उतारता है, उसके जन्म-मरण की फांसी सट जाती है। उसे पूर्ण ज्ञान और पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। जब पूर्ण ब्रह्म ही मिल गया तो फिर क्या पाना शेष रह गया? जब प्रभु मिल गये तो त्रिताप ही मिट गये। फिर उसे कुछ भी पाना शेष न रह गया। मगर अज्ञानी जीव नहीं जानता कि वह प्रभु कहां है? अतएव वह इधर-उधर भटकता है, मगर जिसने पा लिया है, वह कहता है:—

जग ढूंढ़-ढूंढ़ मैं हारा,
घट में पाया प्रीतम प्यारा।
हुइयां दूर जुदाइयां॥

सज्जनो! मुमुक्षु जीव जब गुरु-चरणों में आ गया, गुरु के वचनों के प्रति श्रद्धाशील बन गया और उसने समझ लिया कि इधर-उधर घूमने से परमात्मा मिलने वाला नहीं है, तब वह समझ

लता है और कहता है कि—गुरु महाराज ! आपकी कृपा हो गई कि मैं ठिकाने आ गया ! इससे पहले मेरी क्या दशा थी ! मैंने उस दिलोजान के लिए, परमात्मा के लिए कोई झाड़ नहीं छोड़ा, पहाड़ नहीं छोड़ा, नदी-नाला नहीं छोड़ा। सब जगह भटकता फिरा, मगर वह कहीं भी नजर न आया। नजर आता भी तो कैसे ! वह लुक-छिप कर रहने वाला नहीं है। वह सभी जगह है और नहीं है तो कहीं नहीं ह।

परमात्मा विचारों की शय्या पर सो रहा है। आत्मा रूपी वधू उसके पास पहुंचे तो दोनों का सम्पर्क हो जाये। किन्तु आत्मा बाईजी तो घर को छोड़ कर दूसरी जगह भटकती फिरती हैं। यहां आत्मा है वहाँ परमात्मा है। ऐसी स्थिति में दोनों का सम्बन्ध हो तो कैसे हो ?

किन्तु ब्यावर वालो ! दलाल बिना सौदा नहीं पटेगा। परमात्मा भी चाहता है कि आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाये और आत्मा भी उससे मिलने के लिए उत्कंठित है, मगर प्रकृति-भगवती या पुद्गलचंदजी बीच में अड़े हैं, जो मिलने नहीं देते। आप जानते हैं कि खोटा दलाल हो तो बना बनाया सौदा बिगाड़ देता है। तो यह पुद्गल रूपी दलाल आत्मा और परमात्मा का संबंध नहीं होने देता और तुम भी पुद्गल के पीछे पड़े हो। मगर याद रखना कि उसके भरोसे बैठे रहोगे तो वह कभी मिलने नहीं देगा; क्योंकि परमात्मा और आत्मा के बीच दीवार खड़ी करना उसका स्वभाव है। अतएव अगर तुम्हें शादी करनी ही है तो किसी अच्छे ईमानदार दलाल की खोज करो। वही तुम्हारा काम बनायेगा।